मज्जनचिन्तवल्लभम्

* ग्रंथकर्त्ता *

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री मल्लिषेण जी महाराज

* अनुवादक एवं सम्पादक *

परम पूज्य अचिन्त्य प्रज्ञाशक्तिधारक
युवामुनि १०८ श्री सुविधिसागर जी महाराज

* वाचनाकार *

पूज्य आर्यिका १०५ श्री सुविधिमती माताजी

तथा

पूज्य आर्यिका १०५ श्री सुयोगमती माताजी

ॐ प्राप्तिस्थान ॐ

भरतकुमार इन्दरचन्द पापड़ीवाल
सिडको, एन -९,ए ११५/४९-४, शिवनेरी कालोनी
औरंगाबाद (महाराष्ट्र) ४३१००३

प्रकाशनकाल - १५ जून - २००२ (श्रुतपंचमी)
आवृत्ति क्रमांक - प्रथम
प्रति - पाँच हजार
प्रकाशक - अनेकान्त श्रुत प्रकाशिनी संस्था

पुनर्प्रकाशन हेतु अर्थसहयोग
ग्यारह रुपये मात्र

अर्थ सहयोग

श्री शीतलनाथ दिगम्बर
जैन मन्दिर
राजस्थानी दिगम्बर जैन भवन
श्री नागेन्द्र दिगम्बर जैन समाज
जूनी शुक्रवारी, ग्रेट नागरोड
नागपुर -९ (महाराष्ट्र)

अर्थ सहयोग

श्रीमती सावित्रिदेवी भंवरलाल
जी सेम्बारा
आदिनाथ ट्रेडर्स
मस्कासाथ -ईतवारी,
नागपुर (महाराष्ट्र)

[illegible] नागपुर, फोन [illegible]

सम्पादकीय

आगम साधुओं का तृतीय नेत्र है। उसी चक्षु के माध्यम से मुनिराज वस्तुस्वरूप को देखते हैं। अपने जीवन को आगमनिर्दिष्ट मार्ग पर स्थापित करने से ही मुनिराज का जीवन निर्मल बन जाता है। सद्गुणों के आगार तथा रत्नत्रय के चलते फिरते तीर्थ वे मुनीश्वर धरती के देवता हैं। उनका दर्शन, पूजन अथवा वन्दन ही भव-भव के क्रन्दन को नष्ट कर देता है।

वर्तमान में मनुष्य अन्न का कीडा बना हुआ है अथवा भोगों का गुलाम बना हुआ है। ऐसे विकट समय में आज भी जिनलिंग के धारी मुनियों के दर्शनों का अवसर प्राप्त होता है, यह महापुण्य का ही फल समझना चाहिये।

मुनिराज का स्वरूप क्या है ?
मुनिराज के कौन-कौन से विशेष गुण होते हैं ?
उनके योग्य और अयोग्य आचरण कौनसे हैं ?
मुनिराजों को अपने परिणामों की विशुद्धि के लिए क्या-क्या चिन्तन करना चाहिये ?
किनका जीवन सार्थक है? और किनका निरर्थक ?

आदि अनेक प्रश्नों का उत्तर इस ग्रंथ में है।

मुनियों के आचरणपद्धति को सुस्पष्ट करने वाले मूलाचार, भगवती आराधना, आराधनासार, चारित्रसार और अनगार धर्मामृत आदि अनेक ग्रन्थ हैं तथापि इतना संक्षिप्त पद्धति से अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

यह लघुकाय ग्रन्थ आचार्य श्री मल्लिषेण जी के द्वारा रचित है। ग्रन्थकर्ता ईसवी सन् १०४७ के महान आचार्य थे। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त ग्रन्थकर्ता ने **महापुराण** और **नागकुमार महाकाव्य** की भी रचना की है।

ग्रन्थकर्ता जैन आगम परम्परा के कुशल अध्येता, उत्कृष्ट साधक,

महान वक्तृत्वशैली के धनि, उस युग के श्रेष्ठ एवं जेष्ठ आचार्य थे और वे शिथिलाचार के प्रबल विरोधि थे यह बात प्रस्तुत ग्रन्थ की शैली से सुस्पष्ट हो ही जाती है।

प्राप्त जानकारी के अनुसार इस ग्रन्थ पर आचार्य श्री चन्द्रकीर्ति के शिष्य आचार्य श्री श्रुतकीर्ति जी की तथा मुनि श्री बालचन्द्र जी की टीका प्राप्त होती है। दोनों ही टीकायें कन्नड भाषा में हैं।

यह ग्रन्थ सम्बोधनप्रधान शैली में लिखा हुआ है। अतः विवेचन शैली के कारण कहीं-कहीं कठोर शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। यदि उन्हीं शब्दों को पकडकर कोई मुनियों की आलोचना करना प्रारंभ करें तो यह उसकी बालबुद्धि का ही फल होगा। ग्रन्थकर्त्ता ने जितनी बातें लिखी हैं उसका हेतु मुनियों की आलोचना करना नहीं अपितु मुनियों को शिथिनलाचार से बचाना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कहीं-कहीं श्रावकों के लिए भी सम्बोधन किया गया है परन्तु अधिकांश उपदेश मुनियों के लिए ही दिया गया है। मुनियों की धर्मनीति को कुल तेईस शार्दूलविक्रीडित छन्दों में जिस ढंग से पिरोया गया है, वह अपूर्व है। इस ग्रन्थ पर **गागर में सागर** यह उक्ति चरितार्थ होती है। शब्दों का समायोजन अत्यन्त आलंकारिक एवं रमणीय है। इस ग्रन्थ में कुल पच्चीस श्लोक हैं। भाषा की दृष्टि से ग्रन्थ अत्यन्त प्रौढ है।

इस ग्रन्थ का अनुवाद करने में मात्र आठ दिनों का समय लगा। आशा है कि पाठकवर्ग के लिए यह टीका सरल और तत्त्वबोधिनी सिद्ध होगी। इसे प्रकाशन के योग्य बनाने में भिलाई निवासी श्री दिनेशकुमार जी जैन और मालवीयनगर दुर्ग निवासी प्रो. पी. के. जैन का अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ।

जिनके पुनीत अर्थसहयोग से यह कृति आपके करकमलों तक पहुँच सकी है, उन समस्त अर्थसहयोगियों को आशीर्वाद।

इस कृति में व्याकरण और सिद्धान्त विषयक जो भी त्रुटियाँ हुई हो, मान्यवर विद्वान हमें ज्ञात कराने का कष्ट करें ताकि आगामी प्रकाशन में हम अपनी भूल सुधार सकें।

यह ग्रन्थ आपके ज्ञानधन की वृद्धि करें, यही आशीर्वाद।

मुनि सुविधिसागर

जिनका
कृपापूर्ण मंगल आशीर्वाद
मेरी साधना जीवन का बल है ,
जिनकी प्रेरणामयी मंगलवाणी, मेरे
साहित्यजीवन का सम्बल है, ऐसे अभीक्ष्ण
ज्ञानोपयोगी, कुमारश्रमण, करुणाकुबेर,
वात्सल्यरत्न, भव्यैकबन्धु, ज्ञानध्यान
तपोरत, सरस्वती के वरदपुत्र, वादीभगज
पंचानन, वीतरागमार्ग के पथिक, गुरुत्व
के आधार, श्रद्धेय गुरुद्वय के परम
पवित्र कर कमलों में प्रस्तुत कृति
सादर समर्पित ।

समर्पण

अनुक्रमणिका

श्लोकांक	विषय	पृष्ठांक
१.	मंगलाचरण और प्रतिज्ञा	१
२.	मुनि की शोभा चारित्र से है	३
३.	केवल नग्नता ही मुनित्व नहीं है	४
४.	साधु का लक्षण	७
५.	धनादि की कामना का निषेध	११
६.	मुनियों का कर्त्तव्य	१३
७.	स्त्रीकथा का त्याग	१६
८.	शरीर का स्वरूप	१७
९.	शरीर की दुर्गन्धयुक्तता	१९
१०.	स्त्रियों को दूर से ही छोड़ने की प्रेरणा	२०
११.	शरीर का मोह त्यागने की प्रेरणा	२२
१२.	स्वार्थ के कारण सम्बन्ध होते हैं	२४
१३.	त्यागी हुई वस्तु को पुनः ग्रहण करने का निषेध	२५
१४.	धर्म करने की प्रेरणा	२६
१५.	मोह का त्याग करने की प्रेरणा	२८
१६.	मनुष्यायु कैसे व्यतीत होती है ?	३०
१७.	परीषह सहन करना चाहिये	३१
१८.	संघ में रहने का आदेश	३२
१९.	शरीर से निर्ममत्व रहने की प्रेरणा	३५
२०.	उनका जीवन निष्फल हो जाता है	३७
२१.	दुर्लभत्व का बोध	३९
२२.	स्त्री संगति का निषेध	४१
२३.	स्त्रियों पर विश्वास करने का निषेध	४३
२४.	शरीर के संस्कार का निषेध	४५
२५.	ग्रंथ का उपसंहार	४७
००	श्लोकानुक्रम	४९
००	हमारे उपलब्ध पूर्व प्रकाशन	

आचार्य श्री मल्लिषेण विरचित

सज्जनचित्तवल्लभ

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

नत्वा वीरजिनं जगत्त्रयगुरुम्मुक्तिश्रियोवल्लभं ,
पुष्पेषु क्षयनीतिबाणनिवहं संसारदुःखापहम् ।
वक्ष्ये भव्यजन प्रबोधजननं ग्रन्थं समासादहं ,
नाम्ना सज्जनचित्तवल्लभमिमं श्रृण्वन्तु सन्तोजनाः ॥१॥

अन्वयार्थ :-

(जगत्त्रय गुरुम्) तीनलोक के गुरु **(मुक्तिश्रियोवल्लभम्)** मुक्तिलक्ष्मी के प्रिय **(पुष्पेषु क्षयनीतिबाणनिवह)** काम के बाण को नष्ट करने वाले ब्रह्मचर्य रूपी बाण के धारक **(संसार दुःखापहं)** संसार के दुःखों का हरण करने वाले **(भव्यजन प्रबोधजननं)** भव्यजीवों को ज्ञान प्रदान करने वाले **(वीरं जिनम्)** वीर जिनेन्द्र को **(नत्वा)** नमस्कार करके **(अहम्)** मैं **(सज्जनचित्तवल्लभं नाम्ना)** सज्जनचित्तवल्लभ नाम के **(इमं ग्रन्थम्)** इस ग्रंथ को **(समासात्)** संक्षेप में **(वक्ष्ये)** कहूँगा **(सन्तोजनाः)** हे सज्जनो । **(श्रृण्वन्तु)** इसे तुम श्रवण करो ।

अर्थ :-

जो तीन जगत् के गुरु हैं, मोक्षलक्ष्मी के वल्लभ हैं, कामबाण को नष्ट करने में समर्थ ऐसे ब्रह्मचर्य रूपी बाण को धारण करने वाले हैं, संसार के दुःखों को हरने वाले हैं भव्यजीवों को ज्ञान देने वाले हैं ऐसे भगवान महावीर को नमस्कार करके मैं **सज्जनचित्तवल्लभ** नामक ग्रन्थ को संक्षिप्त रूप में कहूँगा ।

हे सन्तजनो ! तुम इसे सुनो ।

भावार्थ :-

ग्रंथकर्त्ता आचार्य श्री मल्लिषेण जी ने इस श्लोक में मंगलाचरण तथा ग्रंथ की रचना करने की प्रतिज्ञा की है ।

मंगलाचरण करते हुए ग्रंथकर्त्ता ने वीरप्रभु को नमस्कार किया है। यहाँ प्रयुक्त हुआ वीर शब्द अनेकार्थवाची है। यथा -

१. चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी का एक नाम वीर भी है।

२. वि विशेषणपूर्वक **इर् गतौ** धातु से वीर शब्द निष्पन्न होता है। जो धातु गत्यर्थक होते हैं, वे ज्ञानार्थक भी होते हैं। अतः जो विशिष्ट ज्ञान के (केवलज्ञान के) धारक होते हैं, वे वीर कहलाते हैं।

३. वि यानि विशिष्ट ई यानि लक्ष्मी। **वि विशिष्टा ई लक्ष्मीः, तां राति ददातीति वीरः।** जो विशिष्ट लक्ष्मी को (अन्तरंग लक्ष्मी और बहिरंग लक्ष्मी को) प्रदान करने वाले हैं उन्हें वीर कहा जाता है।

४. जो कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं वे वीर हैं।

५. वकार से चार व रकार से दो अंक लेना चाहिये। अंक हमेशा विपरीत गति के धारक होते हैं। अतः वीर शब्द चौबीस तीर्थंकरों का भी वाचक है।

कैसे हैं वे वीरप्रभु ?

१. जगत्त्रय के गुरु हैं अर्थात् ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में निवास करने वाले समस्त जीवों के गुरु हैं।

२. मुक्तिलक्ष्मी के प्रिय हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं।

३. ब्रह्मचर्यरूपी बाण के धारक हैं। कवियों के मतानुसार काम के पाँच बाण हैं। काम उन बाणों से इतना विक्रमशील बना हुआ है कि वह संसार भर में दुर्जय हो गया है। वीरप्रभु उसे ब्रह्मचर्य रूपी बाणों के द्वारा विद्ध करते हैं।

४. संसार के दुःखों का हरण करने वाले हैं। संसारी जीव कायिक, वाचिक, मानसिक आदि अनेक दुःखों से सन्तप्त हो रहे हैं परन्तु जो वीरप्रभु के चरणों का सेवक हैं, वे इन समस्त दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

५. भव्यजीवों को ज्ञान प्रदान करने वाले हैं। हेयोपादेय के विवेक को ज्ञान कहते हैं अथवा जिसके द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है उसे ज्ञान कहते है। श्री वीरप्रभु भव्य जीवों को हिताहित का ज्ञान देते हैं।

ऐसे पाँच विशेषणों से विशिष्ट वीर जिनेन्द्र को ग्रंथकर्त्ता ने नमस्कार किया है। इन पाँच विशेषणों में यह विशेषता है कि आदि का प्रथम विशेषण हितोपदेशित्व का वाचक है, तत्पश्चात् तीन विशेषण वीतरागता के वाचक हैं और अन्तिम विशेषण सर्वज्ञता का बोधक है।

आचार्य श्री मल्लिषेण जी ने प्रतिज्ञा की है कि मैं **सज्जनचित्तवल्लभ** ग्रंथ का संक्षेप पद्धति का अनुशरण करते हुए व्याख्यान करूंगा।

मुनि की शोभा चरित्र से है

रात्रिश्चन्द्रमसा विनाब्जनिवहैर्नोभाति पद्माकरो,
यद्वत्पण्डितलोकवर्जितसभा दन्तीव दन्तं विना।
पुष्पंगन्धविवर्जितं मृतपतिः स्त्री चेह तव्दन्मुनि-
श्चारित्रेण विना न भाति सततं यद्यप्यसौ शास्त्रवान्॥२॥

अन्वयार्थ :-

(यद्वत्) जिसप्रकार **(चन्द्रमसा)** चन्द्रमा के **(विना)** बिना **(रात्रिः)** रात, **(अब्जनिवहैर्विना)** कमलों के समुदाय के बिना **(पद्माकरः)** तालाब, **(पण्डितलोकवर्जितसभा)** विद्वानों से रहित सभा, **(दन्तं विना दन्ती)** दाँतों के बिना हाथी, **(गन्धविवर्जितं पुष्पं)** सुगन्ध से रहित पुष्प, **(मृतपतिः स्त्री)** जिसका पति मर चुका है, ऐसी स्त्री **(इह)** इसलोक में **(न भाति)** शोभा को प्राप्त नहीं होती **(तद्वत्)** उसीप्रकार **(मुनिः)** मुनि **(सततं)** हमेशा **(चारित्रेण विना)** चारित्र के बिना **(न भाति)** शोभित नहीं होते **(यद्यपि)** भले ही वे **(शास्त्रवान्)** शास्त्रों के ज्ञाता **(असौ)** क्यों न हो ?

अर्थ :-

जैसे चन्द्रमा के बिना रात, कमलों के समूह से रहित सरोवर, विद्वानों के बिना सभा, दंतविहीन हाथी, गन्ध से रहित पुष्प, पति के मर जाने पर स्त्री इसलोक में शोभित नहीं होती उसीप्रकार चारित्र के बिना मुनि की शोभा नहीं होती, भले ही वे मुनि कितने भी श्रुतसम्पन्न क्यों न हों।

भावार्थ :-

मुनियों को चारित्रमार्ग में दृढ करने के लिए आचार्यदेव ने इस श्लोक के द्वारा करुणापूर्वक उपदेश दिया है।

१. रात्रिकाल में चन्द्रमा के बिना आकाश शोभा को प्राप्त नहीं होता।

२. बिना कमलों का तालाब सुन्दर नहीं दिखता।

३. पण्डितों से रहित सभा की गरिमा नहीं रह पाती।

४. दाँतों से रहित हाथी का सौन्दर्य लुप्त हो जाता है।

५. गन्धरहित पुष्प लोकप्रिय नहीं हो पाता।

६. जिसका पति मर गया है, वह स्त्री भी शोभित नहीं होती।

इन छह दृष्टान्तों के समान ही चारित्र से विहीन मुनि भी सुशोभित नहीं होते।

स्वरूपे चरणं चारित्रम्। स्वरूप में विचरण करना चारित्र है अथवा जिसके द्वारा संसार के कारणों का विनाश होता है उसे चारित्र कहते हैं। मुनिराज पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र का परिपालन करते हैं, अथवा मुनिराज सामायिक व छेदोपस्थापनादि चारित्र को अंगीकार करते हैं।

चारित्रगुण से रहित मुनि अभव्यसेन मुनि की तरह ग्यारह अंग और नौ पूर्वों के पाठी होते हुए भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाते। इसके विपरीत श्रेष्ठ चारित्र से विभूषित शिवभूति, भीम आदि के समान मुनि अल्पज्ञ होते हुए भी शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। अतः ग्रंथकार मुनि की शोभा ज्ञान से नहीं, अपितु चारित्र से मानते हैं।

केवल नग्नता ही मुनित्व नहीं है

किं वस्त्रत्यजनेन भो मुनिरसावेतावता जायते,
क्ष्वेडेनच्युत पन्नगो गतविषः किं जातवान् भूतले ?
मूलं किं तपसः क्षमेन्द्रियजयः सत्यं सदाचारता ,
रागादींश्चविभर्ति चेन्न स यति लिङ्गी भवेत् केवलम् ॥३॥

अन्वयार्थ :–

(**क्ष्वेडेन च्युत**:) केंचुली को छोड़ने मात्र से (**पन्नग:**) सर्प (**भूतले**) इस भूतल पर (**किम्**) क्या (**गतविष: जातवान्**) विषरहित हो जाता है ? (**भो मुनि !**) हे साधो ! (**एतावता**) इन (**वस्त्रत्यजनेन**) वस्त्रों का त्याग करने से (**असौ**) वह (**किम्**) क्या (**मुनिर्जायते**) मुनि हो जाता है ? (**तपसो मूलं**) तप का मूल (**किम्**) क्या है ? (**क्षमेन्द्रियजय:**) क्षमा और इन्द्रियजय (**सत्यम्**) सत्य तथा (**सदाचारता**) सदाचार है । (**चेत्**) यदि (**स: रागादीन् बिभर्ति:**) वह रागादिकों का पोषण करता है तो वह (**यति: न**) साधु नहीं है । (**केवलम्**) केवल (**लिङ्गी भवेत्**) वेष को धारण करने वाला होता है ।

अर्थ :–

हे साधो ! इन वस्त्रों के त्याग कर देने मात्र से ही क्या कोई मुनि हो जाता है ? केंचुली के छोड़ने से इस पृथ्वी पर क्या कोई सर्प निर्विष बन जाता है ? तपश्चर्या का मूल क्या है ? क्षमादि तथा इन्द्रियजय, सत्य और सदाचारपना । यदि साधु रागादि को ही पुष्ट करता है, तो वह साधु नहीं है, मात्र लिंगी होता है ।

भावार्थ :–

अनन्तरपूर्व श्लोक में चारित्रसम्पन्न बनने की प्रेरणा दी गयी थी । इस श्लोक में उसी बात को दृढ करते हैं ।

जिसप्रकार काँचली छोड़ देने मात्र से ही कोई सर्प विषरहित नहीं हो जाता, उसीप्रकार चारित्र से रहित केवल बाह्य नग्न वेषमात्र से कोई मुनि नहीं कहलाता । बाह्य में वस्त्रादिक परिग्रहों के त्याग के साथ आभ्यन्तर में चौदह प्रकार के परिग्रह का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक होता है । आभ्यन्तर व बाह्यपरिग्रह के त्याग रूप चारित्र को ग्रहण करने वाला ही पूज्य होता है ।

आचार्य श्री अमितगति जी लिखते हैं कि –

विनिर्मलं पार्वणचन्द्रकान्तं,
यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञ:।

मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्यः,
कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः ॥

(सुभाषितरत्न सन्दोह-२३९)

अर्थात् :- जिस पुरुष के अत्यन्त निर्मल पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान चारित्र होता है वही गुणवान है, वही माननीय है, वही कुलीन है, वही जगत में वन्दनीय है, उसी का जन्म सफल है तथा वही महान बुद्धि का धारक है।

मुनिराज ऐसे परम प्रशस्त चारित्र की निधि से सम्पन्न होते हैं। ऐसे तपोधन का जीवन पूर्ण सदाचारमय होता है। वे उपसर्गकर्त्ता पर सदैव क्षमाभाव धारण करते हैं। इन्द्रियों को जीतकर वे स्वात्मध्यान का प्रयत्न करते हैं। सत्य का आभूषण पहनने के कारण वे अत्यन्त सुन्दर लगते हैं।

जिसप्रकार अमृत का सेवन करने से क्लेश मिटता है व पौष्टिकता का आविर्भाव होता है। वैसे ही चारित्र का परिपालन करने से आत्मा के सम्पूर्ण क्लेश विलीन हो जाते हैं और आत्मा पुष्ट होती है। जैसे विष का सेवन करने से महान कष्ट भोगना पड़ता है तथा प्राणों का वियोग भी होता है उसीप्रकार विषय-भोगों से जीव अनेक कर्मों का बन्ध कर लेता है तथा दारूण दुःखों को भोगते हुए हुए नरक-निगोदादि की पर्यायों को प्राप्त करता है।

जो मुनिवेश को धारण करके भी रागभाव को पुष्ट करते हैं, इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हैं, विषय-भोगों से आसक्ति करते हैं, वे केवल वेषमात्र से ही मुनि हैं। ऐसे मुनियों के संसार का कभी अन्त नहीं हो सकता।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव लिखते हैं -

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥

(लिंगपाहुड-२)

अर्थात् :- धर्म ही लिंग होता है। लिंगमात्र को धारण करने से ही किसी को धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए भाव को ही धर्म जानो। भाव से रहित लिंग से तुझे क्या कार्य है ?

भावलिंग ही मुख्य लिंग है और मोक्ष का कारण है। अतः उसे प्राप्त करके कर्मक्षपण करने का प्रयत्न किया जाना उचित है।

साधु का लक्षण

देहे निर्ममता गुरौ विनयता नित्यं श्रुताभ्यासता,
चारित्रोज्ज्वलता महोपशमता संसारनिर्वेगता।
अन्तर्बाह्य परिग्रहत्यजनता धर्म्मज्ञता साधुता,
साधो साधुजनस्य लक्षणमिदं संसारविक्षेपणम् ॥४॥

अन्वयार्थ :-

(देहे निर्ममता) शरीर से निर्ममत्वता **(गुरौ विनयता)** गुरु में विनय **(नित्यं श्रुताभ्यासता)** नित्य श्रुत का अभ्यास **(चारित्रोज्ज्वलता)** चारित्र में निर्मलता **(महोपशमता)** महान उपशम से सहितता **(संसारनिर्वेगता)** संसार से विरक्तिभाव **(अन्तर्बाह्य परिग्रहत्यजनता)** अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग **(धर्मज्ञता)** धर्म के स्वरूप का ज्ञान **(साधुता)** साधुता **(साधो!)** हे साधो! **(इदं)** ये **(साधुजनस्य)** साधुओं के **(संसारविक्षेपणम्)** संसार का विनाश करने वाले **(लक्षणम्)** लक्षण हैं।

अर्थ :-

हे साधु! देह से निर्ममता, गुरु का विनय, नित्य श्रुताभ्यास, चारित्र की उज्वलता, महा-उपशमता, संसार से निर्वेगता, अन्तर्बाह्य परिग्रह रहितता, धर्मज्ञता ये साधुता के लक्षण हैं ऐसा साधुजनों ने कहा है। यह साधुता संसार का नाश करती है।

भावार्थ :-

अनन्तरपूर्व श्लोक में अन्तरंग चारित्र की प्रधानता को दर्शाया गया है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया था कि केवल नग्नवेष मोक्षमार्ग नहीं है। साधुओं में पाये जाने वाले चारित्रिक गुण ही पूजनीय होते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि साधुओं में ऐसे कौन से गुण होने चाहिये कि जिससे वे त्रिलोकपूज्यत्व प्राप्त कर सके ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत श्लोक में किया गया है। इस श्लोक में साधु के नौ मुख्य गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें साधुता का लक्षण माना गया है।

१. शरीर से निर्ममत्व :- पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से शरीर की प्राप्ति होती है। यह शरीर जीव को मोक्षमार्ग की साधना में भी सहयोग प्रदान करता है तथा पतन के मार्ग में भी सहयोगी बनता है। शरीर के प्रति रागभाव समस्त अनर्थों की जड है। शरीर के प्रति किया गया रागभाव असंयम को बढाता है, तप से विमुख करता है, परीषह व उपसर्ग के सहन करने में भय उत्पन्न करता है, इष्ट कार्यों से विमुख करता है तथा ध्यान में विघ्न उत्पन्न करता है। शरीर के प्रति जबतक रागभाव रहता है, तबतक आत्महितकारी कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि जो कार्य शरीर के लिए हितकारक होते हैं, वे कार्य आत्मा का अहित करने वाले होते हैं तथा जो कार्य आत्मा के लिए हितकारक होते हैं, वे कार्य शरीर का अहित करने वाले होते हैं। इसीलिए मुनिराज शरीर से ममत्वभाव नहीं करते हैं।

२. गुरु में विनय :- हितोपदेष्टा गुरु मोक्षमार्ग में हस्तावलम्बन प्रदान करते हैं। गुरु ऐसा दीपक है, जिसके प्रकाश में शिष्य हिताहित का बोध प्राप्त कर लेता है। जिसके जीवन में गुरु नहीं होते, उसका जीवन प्रकाशशील एवं विकासशील नहीं होता। अतः साधुजन गुरुओं का आदर करते हैं।

यहाँ यह बात विशेषरूप से ज्ञातव्य है कि जो गुणाधिक हैं, पदाधिष्ठित हैं अथवा दीक्षा में बडे हैं, वे सब गुरु हैं। जिन्होंने अपने पर उपकार किया है, वे सब गुरु कहलाते हैं। उन सब का यथायोग्य विनय करना चाहिये।

३. नित्य श्रुत का अभ्यास :- मन को एकाग्र करने के लिए, साधना मार्ग का बोध प्राप्त करने के लिए तथा साधना के अवरोधक कारणों से बचने के लिए जिनवाणी का नित्य अध्ययन किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

मुनिराज इस तथ्य से परिचित होते हैं कि मन चंचल है, बिना स्वाध्याय के उसे रोक पाना संभव नहीं है। मन को रोके बिना साधना नहीं हो सकती। अतः मुनिराज अपने मन को निरन्तर स्वाध्याय में लीन करते हैं।

४. चारित्रोज्वलता :- जिसप्रकार समुद्र रत्नों का आगार होता है, उसीप्रकार मुनि चारित्र के भण्डार होते हैं। उनका आचरण स्वच्छ दर्पण की तरह पवित्र होता है। संसार के कारण राग और द्वेष का उच्चाटन करने के लिए वे सतत आत्मचर्या रूप स्व-समय में रममाण रहने का प्रयत्न करते हैं। आडम्बर युक्त प्रवृत्ति, लोकोपचार और ख्याति-लाभादि की इच्छा के बिना केवल आत्मकल्याण के लिए ही वे चारित्रगुण का अनुपालन करते हैं। मुनियों के चारित्र में लोकमर्यादा का उल्लंघन भी नहीं होता है, अतः उनका चारित्र निर्मल होता है।

५. महान उपशम से सहितता :- कषाय जीव के प्रबलतम वैरी हैं। मुनिराज इन्द्रियविजय की तरह कषायों पर भी विजय प्राप्त किया करते हैं। उदय में आने वाले कर्मों के कारण से प्राप्त होने वाले फल को वे समताभाव से सहन करते हैं। शत्रु और मित्र, जीवन और मरण, हानि और लाभ, काँच और कंचन, संयोग और वियोग आदि समस्त अनुकूल और प्रतिकूल परिणामों में समताभाव को अंगीकार करते हैं। पर को दोष देना तो वे जानते ही नहीं हैं। प्रतिपल वे अपने मन में सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव धारण करते हैं। इसलिए मुनिराज क्षमा की साकार मूर्ति होते हैं। उनके इस उपशम परिणाम के प्रभाव से जन्मजात वैर धारण करने वाले प्राणी भी परम मैत्रीत्व को धारण करते हैं।

६. संसार से विरक्तिभाव :- प्रतिक्षण संसारभावना का चिन्तन करने वाले मुनिराज पंचपरिवर्तन रूप संसार से भयभीत रहते हैं। वे जानते हैं कि भववन में भटकते हुए इस जीव ने अनन्तबार विषय-भोगों को प्राप्त किया, भोगा और उसके फलस्वरूप आत्मा को दुर्गति में अतीव दुःख सहन करने पड़े हैं। यदि संसार से प्रीति बनी रही तो आगामी काल में भी भयावह दुःख सहने पड़ेंगे। अतः वे अपनी आत्मा को प्रतिपल सम्बोधित करते हैं कि -

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥
(इष्टोपदेश - ३०)

अर्थात् :- सभी पुद्गल परमाणु मैंने मोहवश बार-बार भोगकर छोड़ दिये हैं, फिर आज उच्छिष्ट भोजन के समान उन पुद्गलों में तत्त्ववेत्ता (बुद्धिमान) के समान मेरी क्या अभिलाषा है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

इस संसार में जीव परस्पर में कभी सम्बन्धी, कभी शत्रु और कभी मित्रादि बन जाते हैं । अधिक क्या कहें ? दुर्भाग्यवशात् कभी-कभी जीव अपना ही पुत्र बन जाता है । यह संसारसमुद्र दुःख रूपी झाग से भरा हुआ है । सर्वत्र स्वार्थ की लहरें उछल रही हैं । बहिरात्मा रूपी नक्र-चक्र इस समुद्र में यत्र-तत्र विचरण कर रहे हैं । कुधर्म रूपी दस्यु जीव को लूटने के लिए सदैव कटिबद्ध हैं । ऐसे असार संसार से कुछ सार की चाहना करना बालुका से तेल निकालने के समान निरर्थक है । इस सत्य के ज्ञाता मुनीश्वर संसार से सदैव विरक्त रहते हैं ।

७. अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग :- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड ये दस प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं । ये परिग्रह के चौबीस भेद हैं । परिग्रह परद्रव्य के प्रति ममत्वभाव को जागृत करता है । परिग्रह दुर्गति का कारण है । परिग्रह से मन चंचल होता है । चंचलमन साधना के मार्ग में अपात्र होता है । जबतक मन चंचल बना रहेगा तबतक ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

८. धर्म के स्वरूप का ज्ञान :- वस्तुस्वभाव को धर्म कहते हैं । आत्मा का मूल स्वभाव आत्मधर्म कहलाता है । मोक्ष का अर्थ है - आत्मा को अपने स्वरूप की उपलब्धि हो जाना । स्व-समय का विचार करने में चतुर मुनिराज धर्म को अपना सर्वोत्कृष्ट हितेच्छु मानते हैं । अतः वे सदैव धर्माराधना में लवलीन रहते हैं ।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य ये दस धर्म हैं । मुनिगण इन धर्मों का पालन आगमोक्त रीति से करते हैं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को भी धर्म कहा जाता है । मुनिराज इन तीनों को यथाविधि तथा पूर्ण शक्ति से धारण करते हैं ।

९. **साधुता** :- साधुता यानि सज्जनता, पर दुःखकातर मुनिराज अपने लिए जितने कठोर होते हैं, वे उतने ही पर के लिए कोमल होते हैं । अपने कारण किसी को कष्ट नहीं हो, इस बात का वे पूर्ण रूप से ध्यान रखते हैं । मनसा, वाचा, कर्मणा वे सदाचार का परिपालन करते हैं । दुष्ट पुरुषों को भी वे सदैव सन्तोष प्रदान करते हैं ।

साधु के ये लक्षण कर्मक्षय करने में समर्थ निमित्तकारण होते हैं ।

साधुत्व के लक्षणों का कथन करते हुए आचार्य श्री शिवकोटि जी महाराज लिखते हैं -

दिगम्बरो निरारम्भो नित्यानन्दपदार्थिनः ।
धर्मदिक् च [illegible] च्यते बुधैः ॥

(रत्नमाला - ८)

अर्थात् :- जो दिगम्बर हैं, निरारम्भ हैं, नित्यानन्द पद के इच्छुक हैं, जो धर्म को बढ़ाने वाले हैं, जो कर्म को जलाने वाले हैं वे साधु हैं - ऐसा बुधजनों ने कहा है ।

इन गुणों से युक्त विशिष्ट साधुजनों के श्रीचरणों में मेरा त्रिवार और त्रिकाल सविनय शत् शत् वन्दन ।

धनादि की कामना का निषेध

किन्दीक्षा ग्रहणेन ते यदि धनाकांक्षा भवेच्चेतसि,
किङ्गार्हस्थमनेन वेषधरणेनासुन्दरम्मन्यसे ।
द्रव्योपार्जन चित्तमेव कथयत्यभ्यन्तरस्थाङ्गनां,
नोचेदर्थपरिग्रह ग्रहमतिर्भिक्षो न सम्पद्यते ॥५॥

अन्वयार्थ :-

(भिक्षो !) हे भिक्षु ! **(यदि ते चेतसि)** यदि आपके मन में **(धनाकांक्षा भवेत्)** धन की आकांक्षा है **(तर्हि)** तो **(दीक्षाग्रहणेन किम्)** दीक्षाग्रहण करने से क्या लाभ है ? **(अनेन वेषधारणेन किम्)** इस वेष को धारण करने से क्या लाभ है ? **(गार्हस्थ्यम्)** गृहस्थावस्था को **(असुन्दरम् मन्यसे)** असुन्दर मानते हो ? **(द्रव्योपार्जन चित्तमेव)** द्रव्य को उपार्जन करने की इच्छा ही **(आभ्यन्तरस्थ)** अन्तरंगस्थ **(अङ्गनां कथयति)** नारी को कहती है। **(नो चेत्)** यदि ऐसा नहीं है तो **(अर्थपरिग्रहग्रह)** अर्थ रूपी परिग्रह को ग्रहण करने की **(मतिर्न सम्पद्यते)** मति ही उत्पन्न नहीं होती।

अर्थ:-

हे भिक्षुक ! यदि तेरे मन में धन की अभिलाषा है तो फिर दीक्षा ग्रहण करने से तुझे क्या लाभ हुआ ? तू गृहस्थपने को बुरा मानता है किन्तु इस मुनिवेष से क्या लाभ होना है ? द्रव्योपार्जन की आसक्ति स्त्री के प्रति तेरी अभिलाषा को स्पष्ट करती है, नहीं तो यह परिग्रह के संचय करने की बुद्धि तुझ में उत्पन्न ही क्यों होती ?

भावार्थ :-

आचार्य भगवन्त मुनिराज को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि - हे मुनिराज ! आपको मन में धन की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। यदि आपके मन में धन की आकांक्षा उत्पन्न हो जाये तो फिर गार्हस्थ्य और मुनिपद में अन्तर ही क्या रहा ? आपके मन में धनादि की अभिलाषा स्त्रीजनों के प्रति आकर्षण को ही अभिव्यक्त करती है क्योंकि ऐसा नहीं होता तो फिर परिग्रह रूपी पिशाच को पालने की बुद्धि आपके मन में उत्पन्न ही क्यों होती ?

आचार्य श्री शुभचन्द्र समझाते हैं -

रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वितृष्णता।
मुनेः प्रच्याव्यते नूनं सङ्गैर्व्यामोहितात्मनः ॥

(ज्ञानार्णव - ८३३)

अर्थात् :– जिस मुनि का चित्त परिग्रह से मोहित हो जाता है, उसके रागादिक का जीतना, सत्य, क्षमा, शौच और निर्लोभिता आदि गुण विनष्ट हो जाते हैं।

इसी आशय को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री अमितगति जी ने लिखा है –

सद्रत्नत्रयपोषणाय वपुषस्त्याज्यस्य रक्षापरा :।
दत्तं येऽशनमात्रकं गतमलं धर्मार्थिभिर्दातृभिः॥
लज्जन्ते परिगृह्य मुक्तिविषये बद्धस्पृहा निस्पृहा -
स्ते गृह्णन्ति परिग्रहं दमधरा किं संयमध्वंसकम्॥

(तत्त्वभावना - १०४)

अर्थात् :– जो मोक्ष के संबंध में अपनी उत्कण्ठा को बांधने वाले सांसारिक इच्छा के त्यागी हैं और सच्चे रत्नत्रय धर्म को पालने के लिए त्यागने योग्य इस शरीर की रक्षा में तत्पर हैं और जो धर्मात्मा दातारों से दिये हुए दोषरहित भोजन को करपात्र में ग्रहण करके लज्जा को प्राप्त होते हैं वे संयम के धारी यति क्या संयम को नाश करने वाले परिग्रह को ग्रहण कर सकते हैं ?

बाह्य परिग्रह मूर्च्छा का प्रमुख कारण है। मूर्च्छा से मन विक्षिप्त हो जाता है। विक्षिप्त हुए मन से साधना नहीं की जा सकती। अतः आत्म कल्याण करने के इच्छुक साधक को परिग्रह का पूर्णरूप से त्याग कर देना चाहिये।

मुनियों का कर्त्तव्य

योषा पाण्डुकगोविवर्जितपदे संतिष्ठ भिक्षो सदा,
भुक्त्वाहारमकारितं परगृहे लब्धं यथासम्भवम्।
षड्धावश्यक सत्क्रियासु निरतो धर्म्मानुरागं वहन्,
सार्द्ध योगिभिरात्मभावनपरो रत्नत्रयालंकृतः॥६॥

अन्वयार्थ :–

(भिक्षो !) हे साधो। **(त्वम्)** तुम **(सदा)** हमेशा **(योषा)** स्त्री **(पाण्डुक)** नपुंसक **(गो - विवर्जित पदे)** पशुओं के द्वारा छोडे गये स्थान पर **(सन्तिष्ठ)** निवास करो। **(परगृहे)** दूसरों के घर में **(यथासंभवम्)** जहाँ तक संभव हो **(अकारितम् आहारं)** अपनी प्रेरणा

के बिना आहार को (**लब्ध्वा**) प्राप्त करके (**भुक्त्वा**) खाकर (**षडावश्यक सत्क्रियासुनिरतः**) छह आवश्यक रूप समीचीन क्रियाओं में रत रहते हुए (**धर्मानुरागं वहन्**) धर्मानुराग को करते हुए (**योगिभिः सार्द्धं**) योगियों के साथ (**आत्मभावनापरः**) आत्मा की भावना करते हुए (**रत्नत्रयालङ्कृतः**) रत्नत्रय से अलंकृत होओ।

अर्थ :-

हे भिक्षुक! तुम सदैव स्त्री, नपुंसक और पशुओं के द्वारा छोड़े गये स्थान पर रहो। कैसे रहना है? परगृह में यथासंभव अपने द्वारा प्रेरित न किया गया हो, ऐसा आहार प्राप्त करके खाओ, षडावश्यक क्रियाओं में रत रहते हुए, धर्मानुराग को बढ़ाते हुए, योगियों के साथ रहते हुए, आत्म-आराधना पूर्वक रत्नत्रय से अलंकृत रहो।

भावार्थ :-

इस श्लोक में साधुओं को अपने आचरण में पवित्रता बनाये रखने के लिए कुछ दिशानिर्देश दिये गये हैं। यथा -

१. एकान्त स्थान में निवास :- आत्मसाधना में जनसम्पर्क अवरोध उत्पन्न करता है।

आचार्य श्री पूज्यपाद देव इसे स्पष्ट करते हैं कि -

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥

(समाधिशतक-७२)

अर्थात् :- मनुष्यों से अनेक प्रकार की बातें सुनने को मिलती हैं। उन बातों को सुनने से आत्मा के परिणामों में हलन-चलन होता है, उससे मन में विविध प्रकार के क्षोभ या चित्तविक्षेप होते हैं। इस कारण से आत्मध्यान करने वाले मुनि को अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये।

वर्तमानकालीन मुनियों को वन में रहने का निषेध आचार्य श्री देवसेन तथा आचार्य श्री शिवकोटि प्रभृति आचार्यों ने किया है। ज्ञानार्णव में मुनियों के आवास के योग्य स्थानों के वर्णन में देवकुल (मन्दिर) और आगन्तुकागार (धर्मशाला) में रुकने का आदेश है इसके अतिरिक्त

मुनिराज को उसी स्थान पर निवास करना चाहिये, जो स्त्री नपुंसक और पशुओं के द्वारा छोड़ा गया हो।

२. निर्दोष आहार का ग्रहण :- मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटि से आहार बनाने की प्रक्रिया का त्याग करने वाले मुनिराज शरीर की स्थिति को कायम रख कर धर्मादि शुभध्यान करने के लिए आहार लेते हैं।

शुद्ध श्रावक के घर यथालब्ध आहार को ग्रहण करना चाहिये। वह आहार छयालीस दोषों से रहित होना चाहिये।

३. षडावश्यकनिरत :- अनिवार्यतः करणीय कार्य आवश्यक कहलाते हैं। अथवा, जो कार्य पराश्रित नहीं होते, उन्हें आवश्यक कहते हैं। मुनियों के आवश्यककर्म छह हैं। यथा - सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग। मुनिराज इन आवश्यक कार्यों का यथाविधि परिपालन करते हैं।

४. धर्मानुरागवाहीत्व :- मुनि अपनी चर्या में कभी प्रमाद नहीं करते। वे सदैव धर्म के प्रति उत्साहित रहते हैं। धर्म और धर्मफल का चिन्तन और अनुकरण ही हैं प्राण जिनके ऐसे मुनिराज रत्नत्रयरूप अथवा दशलक्षण रूप धर्म का स्वयं पालन करते हैं तथा भव्यजीवों को धर्मोपदेश देकर उन्हें धर्म में दृढ करते हैं।

५. योगियों के साथ निवास :- जो जैसी संगति करता है, वैसा ही बन जाता है। इस तथ्य के ज्ञाता मुनि अपनी चारित्रिक निर्मलता के लिए, साधना मार्ग पर दृढता को प्राप्त करने के लिए तथा विशिष्ट तपोसाधना करने के लिए अपने से विशिष्ट ज्ञानी तपस्वी और अनुभवी साधुओं के साथ निवास करते हैं।

६. आत्माभावना में तत्परता :- स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्ष को प्राप्त करने की अभिलाषा है जिनके मन में, ऐसे मुनिराज मन को संकल्प और विकल्पों से बचाने के लिए तथा निज के कल्याण के लिए सदैव अपने आत्मा की भावना करते हैं। निरन्तर भायी गयी भावना ही उन्हें अपने मार्ग में स्थिर करती है।

७. रत्नत्रय से अलंकृतता :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीन गुणों को आगम में रत्नत्रयसंज्ञा प्राप्त है। यह रत्नत्रय ही हैं आभूषण जिनके ऐसे निर्ग्रंथ श्रमणाधीश्वर रत्नत्रय की परिपालना में सतत कटिबद्ध रहते हैं। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। अतः रत्नत्रय रूपी धन के स्वामी मुनिराज शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है ?

ये सातों ही श्रमणगुण मेरे अन्दर अवतीर्ण हो, एतदर्थ सप्तगुण मण्डित मुनियों के चरणयुगल में मेरा सविधि व सभक्ति प्रणाम हो।

स्त्रीकथा का त्याग

दुर्गन्धं वदनं वपुर्मलभृतम्भिक्षाटनाम्भोजनं,
शैय्या स्थण्डिल भूमिषु प्रतिदिनं कट्यां न ते कर्पटम्।
मुण्डं मुण्डितमर्द्धदग्धशववत्त्वं दृश्यते भो जनैः,
साधोऽद्याप्यबलाजनस्य भवतो गोष्ठी कथं रोचते ॥७॥

अन्वयार्थ :-

(भो साधो !) हे साधो ! **(ते)** आपका **(दुर्गन्धं वदनम्)** मुख दुर्गन्धित है **(वपुः मलभृतम्)** शरीर मल से भरा हुआ है **(भोजनम् भिक्षाटनात्)** भिक्षा से भोजन की प्राप्ति होती है। **(शय्या स्थण्डिल भूमिषु प्रतिदिनं)** प्रतिदिन कठोर भूमि की ही शय्या है। **(कट्यां न कर्पटम्)** कमर में लंगोट नहीं है। **(मुण्डं मुण्डितम्)** सिर मुण्डा हुआ है। **(जनैः त्वम् अर्द्धदग्ध शववत् दृश्यते)** लोगों को तुम अधजले मुर्दे के समान दिखायी देते हो। **(अद्यापि)** ऐसी दशा में भी **(अबलाजनस्य गोष्ठी)** स्त्रियों की वार्ता **(कथं रोचते)** तुम्हें कैसे सुहाती है ?

अर्थ:-

हे साधो। अब भी तुम्हें स्त्री की वार्ता कैसे रुचती है ? तुम्हारा मुख दुर्गन्ध से युक्त है, शरीर मल से भरा हुआ है, भिक्षाटन से भोजन करते हो, प्रतिदिन कठोर भूमि ही तुम्हारी शय्या है, कमर में लंगोट भी नहीं है, सिर मुण्डा हुआ है। तुम्हारा यह रूप लोगों को अधजले मुर्दे के समान दिखाई देता है।

भावार्थ :-

जैनागम में स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा इन चार कथाओं को विकथा कहा गया है। ये कथाएँ असंयम का पोषण करती हैं, कषायों को भड़काती हैं और प्रमाद को वृद्धिंगत करती हैं।

इस श्लोक में ग्रंथकार आचार्य श्री मल्लिषेण जी ने मुनियों को स्त्री विषयक कथा करने का निषेध किया है।

ग्रंथकार लिखते हैं कि - हे मुने ! अस्नानव्रत के कारण आपका सर्वांग जल्ल और मल से परिपूर्ण हो चुका है और अदन्तधावन मूलगुण का परिपालन करने से आपके मुँह से दुर्गन्ध निकल रही है। आप स्वयं भिक्षाटन करके भोजन करते हो। आपके पास कोई कोमल शय्यादि नहीं है, इसलिए ही आप भूमितल पर शयन कर रहे हो। आपके पास लंगोट के बराबर भी वस्त्र नहीं है, इसलिए आप नग्न होकर चर्या कर रहे हो। सिर का मुण्डन करने से आपकी सुन्दरता नष्ट हो चुकी है। आपका मलीन व संस्कारविहीन शरीर लोगों को ऐसा लगता है मानो अधजला शव ही हो। ऐसे भयंकर रूप को धारण करके भी तुम्हें स्त्रीकथा कैसे सुहा रही है ? अर्थात् स्त्रीकथा में आपका मन नहीं लगना चाहिये।

शरीर का स्वरूप

अङ्गं शोणितशुक्रसम्भवमिदम्मेदोऽस्थिमज्जाकुलम्,
बाह्ये माक्षिकपत्रसन्निभमहो चर्म्मावृतं सर्वतः।
नोचेत्काकबकादिभिर्वपुरहो जायेत भक्ष्यं ध्रुवं,
दृष्ट्वाद्यापि शरीरसद्मनि कथं निर्वेगता नास्ति ते ॥८॥

अन्वयार्थ :-

(शोणित शुक्रसम्भवम्) रक्त और वीर्य से उत्पन्न **(मेदोऽस्थिमज्जा कुलम्)** हड्डी, मांस और मज्जादि से भरे हुए **(बाह्ये सर्वतः माक्षिकपत्रसन्निभम्)** बाहर में सभी ओर से मक्खी के पंखों के समान **(चर्मावृतम्)** चमड़ी से ढका हुआ है। **(नो चेत्)** यदि ऐसा नहीं होता तो **(काकबकादिभिः)** कौओं और बगुलादि पक्षियों के द्वारा **(इदं वपुः)** यह शरीर **(भक्ष्यं जायेत)** खाया जाता।

(अहो!) अहो। (इदम्) इस (अङ्गम्) शरीर को (दृष्ट्वा) देखकर (अद्यापि शरीरसद्मनि) अब भी शरीर रूपी सदन से (ते निर्वेगता नास्ति) आपको निर्वेगता नहीं आयी ?

अर्थ:-

अहो । इस शरीर के स्वरूप को देखकर भी तुम्हें इस शरीर रूपी सदन से निर्वेग नहीं हुआ ? कैसा है यह शरीर ? शोणित और शुक्र से बना हुआ है, मेद-अस्थि व मज्जा से भरा हुआ है, बाहर से सभी तरफ से मक्खी के परों के समान चमड़ी से ढका हुआ है, यदि ऐसा न होता तो काक, बक आदि पक्षियों के द्वारा इस शरीर को खाया जाता ।

भावार्थ :-

जीव सबसे अधिक प्रेम अपने शरीर से करता है। जबतक शरीर से प्रेम नहीं हटता, तबतक वैराग्य परिपुष्ट नहीं हो सकता । अतः वैराग्य को दृढ करने के लिए इस श्लोक में अशुचित्व का वर्णन किया गया है।

कैसा है यह शरीर ?

आचार्य श्री शुभचन्द्रदेव ने लिखा है कि -

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानां ,
कुथितकुणिपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं,
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ।।

(ज्ञानार्णव-२/११८)

अर्थात् :- मनुष्यों का शरीर चमडे के समूह से ढका हुआ, हड्डियों का ढाँचा, सडे-गले मृत शरीर के समान दुर्गन्ध से अतिशय परिपूर्ण, यम के मुख में बैठा हुआ - नाशोन्मुख और रोगरूप भयानक सर्पों का स्थान है यह यहाँ मनुष्यों को प्रीति का कारण कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता - वह सर्वथा ही अनुराग के अयोग्य है ।

इस शरीर की उत्पत्ति माता के रज और पिता के वीर्य से होती है। इसमें अनेक दुर्गन्धित पदार्थ भरे हुए हैं । यह तो बहुत अच्छा हुआ कि इस पर चमडी का आवरण है अन्यथा अत्यन्त ग्लानिप्रद हो जाता । इतना ही नहीं अपितु पक्षीगण इसे खा लेते ।

आचार्य श्री शुभचन्द्र जी लिखते हैं कि -

कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मविगुण्ठितम् ।
मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात्त्रातुं कस्तदा प्रभुः ॥

(ज्ञानार्णव २/११२)

अर्थात् :- यह शरीर यदि चमड़े से आच्छादित न होता तो मक्खी, लट और कौओं से भला उसकी रक्षा कौन कर सकता था ? अर्थात् कोई नहीं।

ग्रंथकर्ता मुनिराज को सम्बोधित करते हैं कि - हे साधो ! इतने घृणित शरीर रूपी घर से आपको आसक्ति करना उचित नहीं है। इस शरीर के द्वारा रत्नत्रय की साधना करके आत्मशुद्धि कर लेनी चाहिये।

शरीर की दुर्गन्धयुक्तता

दुर्गन्धं नवभिर्वपुः प्रवहति द्वारैरिदं सन्ततं,
तद्दृष्ट्वापि च यस्य चेतसि पुनर्निर्वेगता नास्ति चेत् ।
तस्यान्यद् भुवि वस्तु कीदृशमहो तत्कारणं कथ्यतां,
श्रीखण्डादिभिरङ्गसंस्कृतिरियं व्याख्याति दुर्गन्धताम् ॥९॥

अन्वयार्थ :-

(अहो!) अहो ! **(इदं वपुः)** यह शरीर **(दुर्गन्धं)** दुर्गन्ध से युक्त **(नवभिः द्वारैः सन्ततं प्रवहति)** नव मलद्वारों से निरन्तर मल बहता रहता है। **(श्रीखण्डादिभिरियं)** चन्दनादि के द्वारा इस **(अङ्ग संस्कृतिः)** शरीर को संस्कारित करने पर भी **(दुर्गन्धतां व्याख्याति)** दुर्गन्ध को ही सुस्पष्ट करता है। **(तद् दृष्ट्वा)** उसे देखकर भी **(यस्य चेतसि)** जिसके चित्त में **(निर्वेगता नास्ति)** निर्वेगता नहीं आती है **(चेत्)** तो **(तस्य)** उसको **(भुवि)** इस पृथ्वी पर **(अन्यत्)** अन्य **(कीदृशं वस्तु)** कौन सी वस्तु **(तत्कारणम्)** वैराग्य का कारण हो सकेगी **(कथ्यताम्)** सो कहो।

अर्थ :-

अरे ! यह शरीर दुर्गन्धयुक्त एवं नव मलद्वारों से सतत रूप में मल प्रवाहमान हो रहा है, केशर चन्दनादिक से सजायी गयी काया भी

दुर्गंध ही छोड़ती है। उसे देखकर भी जिसके मन में निर्वेगता नहीं है, उसको पृथ्वी पर ऐसी अन्य कौन सी वस्तु होगी जो वैराग्य का कारण बन सके।

भावार्थ :-

अनन्तरपूर्व श्लोक में शरीर की अशुचिता का संक्षेप से वर्णन किया गया था। इस श्लोक के द्वारा पुनः उसी का वर्णन किया गया है।

इस शरीर से प्रतिसमय मुख, दो नासापुट, दो आँख, दो कान, मलद्वार और मूत्रद्वार, ये नौ द्वार मल को बहाते रहते हैं। इस शरीर को चाहे चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों से संस्कारित किया जाये या सागर के जल के समान विशाल जल से धोया जाये तो भी इसकी स्वाभाविक मलिनता नहीं जा सकती।

यह अपवित्र शरीर अपने सान्निध्य में आये हुए पवित्र पदार्थों को भी अपवित्र बना देता है।

आचार्य भगवन्त पूछते हैं कि - हे यते ! शरीर की इतनी घृणित दशा को देखकर भी तुम्हें वैराग्य नहीं होता, तो ये बताओ कि किस वस्तु को देखकर तुम्हें वैराग्य होगा ? अर्थात् फिर वैराग्य के उत्पन्न होने की कोई संभावना नहीं है।

स्त्रियों को दूर से ही छोड़ने की प्रेरणा

स्त्रीणां भावविलासविभ्रमगतिं दृष्ट्वानुरागं मना-
ग्मागास्त्वं विषवृक्षपक्वफलवत्सुस्वादवन्त्यस्तदा।
ईषत्सेवन मात्रतोऽपि मरणं पुंसां प्रयच्छन्ति भोः,
तस्माद् दृष्टि विषाहिवत्परिहर त्वं दूरतो मृत्यवे ॥१०॥

अन्वयार्थ :-

(**भो !**) हे साधो ! (**स्त्रीणाम्**) स्त्रियों की (**भावविलास विभ्रमगतिम्**) भावविलास से युक्त विभ्रमगति को (**दृष्ट्वा**) देखकर (**त्वम्**) तुम (**मनागपि**) यत्किंचित् भी (**अनुरागं मा गाः**) अनुराग मत करो। (**विषवृक्षपक्वफलवत्**) वे विषवृक्ष के पके हुए फल के समान

(सुस्वादवन्त्यः) सुस्वाद वाली हैं ।**(ईषत्सेवन मात्रतोऽपि)** अल्प सेवन मात्र से ही **(पुंसाम्)** पुरुषों को **(मरणं प्रयच्छन्ति)** मृत्यु प्रदान करती है । **(तस्मात्)** इसीलिए **(दृष्टि विषाहिवत्)** दृष्टि विष सर्प के समान **(त्वम्)** तुम **(मृत्युवे)** मृत्यु से बचने के लिए उन्हें **(दूरतः)** दूर से ही **(परिहर)** छोड दो ।

अर्थ :-

अरे ! नारियों के भावविलास और विभ्रमगति को देखकर तुम मन से भी अनुराग मत करो । वे विषवृक्ष के पके फलों के समान सुस्वाद युक्त हैं . जिनके अल्पसेवन मात्र से ही पुरुष को मृत्यु होती है. इसीलिए दृष्टि विषधारक सर्प के समान तुम उन्हें दूर से ही छोड दो ।

भावार्थ :-

वैराग्य की उत्पत्ति के लिए संसार, शरीर और भोगों से अनासक्त होना बहुत आवश्यक है । भोगों से विरक्त कराने का उद्देश्य मन में रखकर यहाँ आचार्य भगवन्त ने भोगों में साधनभूत स्त्रियों की निन्दा की है ।

स्त्रियों की निन्दा करते हुए आचार्य श्री प्रभाचन्द्र लिखते हैं कि :-

समधनमुपहर्तुं कामचौरप्रचारम् ।
निश्चयति निकामं कामनी यामनीयम् ।।
सपदि विदधतीयामोहनिद्रासमुद्राम् ।
जनयति जनमन्तः सर्वचैतन्यशून्यम् ।।

(श्रृंगार वैराग्यतरंगिणी-४०)

अर्थात् :- स्त्री शम रूपी धन का अपहरण करने में काम रूपी चोरों का प्रचार बढाने वाली है, मोहनिद्रा रूपी समुद्र को विकसित करने वाली है, विवेक और चैतन्यता को नष्ट करने वाली है।

ठीक ही है, वह कामिनी यामिनी (रात्रि) के समान है।

जिसप्रकार आँखों में कोई भी रोग हो जाने पर वस्तुयें दिखाई नहीं देतीं । उसीप्रकार जिस पुरुष के ज्ञानचक्षु में कामदेव रूपी रोग हो गया है, उसे अपना स्वरूप भी स्पष्ट दिखाई नहीं देता । जिसे नेत्ररोग हो गया हो, उसे पथ सुस्पष्ट दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार कामदेव रूपी रोग से ग्रसित ज्ञानचक्षु को मोक्षपथ दिखाई नहीं देता । अतः वह भव-भवान्तर में भटकता फिरता है ।

यहाँ आचार्य भगवन्त मुनिराज को सम्बोधित करते हैं कि हे यते ! स्त्रियों के भावभंगिमा की विभ्रमयुक्त चाल को देखकर आप लोलुपित भी अनुराग मत करो । ये स्त्रियाँ विषवृक्ष के पके हुए सुन्दर फलों के समान सुस्वादु होती हैं । यदि इनका थोडा सा भी सेवन किया जाता है तो पुरुष को काल-कवलित होना पडता है । जिसप्रकार विषवृक्ष का फल स्वाद में तो अत्यन्त मिष्ट लगता है, परन्तु थोडा सा भी खाये जाने पर मरण का वरण करना पडता है । उसी के समान समस्त स्त्रियाँ भोग के काल में तो अच्छी लगती है परन्तु अन्त में नरक में ले जाने वाली होती हैं ।

जिसप्रकार दृष्टि विष जाति के सर्प को दूर से ही त्यागा जाता है, उसीप्रकार भोगों के कारण रूप इस स्त्री का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये । मोक्ष को प्राप्त करने के लिए आवश्यक ऐसी विवेकबुद्धि को जागृत रखने के लिए यही सर्वोत्तम उपाय है ॥

शरीर का मोह त्यागने की प्रेरणा

यद्यद्वाञ्छति तत्तदेव वपुषे दत्तं सुपुष्टं त्वया,
सार्द्धं नैति तथापि ते जडमते मित्रादयो यान्ति किम् ।
पुण्यं पापमिति द्वयञ्च भवतः पृष्ठे नुयातीहते ,
तस्मान्मास्मकृथा मनागपि भवान्मोहं शरीरादिषु ॥११॥

अन्वयार्थ :-

(**जडमते!**) हे मन्दबुद्धिधारी ! (**इदं शरीरम्**) यह शरीर (**यद् - यद् वस्तु**) जो जो वस्तु (**भवतः**) आपसे (**वाञ्छति**) चाहता है (**त्वया**) तेरे द्वारा (**तद्-तद् एव**) वही-वही (**वपुषे**) शरीर के लिए (**सुपुष्टम्**) पुष्ट करने वाली (**वस्तु दत्तम्**) वस्तुयें दी गई । (**तथापि**) फिर भी वह (**ते सार्द्धम्**) आपके साथ (**नैति**) नहीं आता । तब (**किम्**) क्या (**मित्रादयो यान्ति**) मित्रादिक जायेंगे?

(**इह**) इस लोक में (**ते**) आपका (**पुण्यं पापं द्वयं च**) पुण्य और पाप ये दो ही (**भवतः**) आपके (**पृष्ठे आयाति**) पीछे आता है ।

(तस्मात्) इसीलिए (शरीरादिषु) शरीरादि से (भवान्) आप (मनाक् अपि) किंचित् भी (मोहम्) मोह को (मा स्म कृथा:) मत करो।

अर्थ :-

हे जड़मते! तुमसे इस शरीर ने जो जो वस्तुयें चाहीं, तुमने शरीर को वही-वही पुष्टिकारक वस्तुयें दीं किन्तु यह शरीर तुम्हारे साथ नहीं जाता। फिर मित्रादिक कैसे जायेंगे? इसलोक में कमाए पुण्य और पाप ये दो ही तुम्हारे साथ जाते हैं, इसलिए तुम शरीरादिक में किंचित् भी मोह मत करो।

भावार्थ :-

इस श्लोक में अन्यत्वभावना का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

पण्डितप्रवर द्यानतराय जी ने लिखा है कि -

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
घर संपत्ति पर प्रगट है, पर हैं परिजन लोय॥

(बारहभावना - ५)

अर्थात् :- जहाँ शरीर ही अपना नहीं है, वहाँ और कुछ भी अपना कैसे हो सकता है? घर, संपत्ति, परिजन लोग तो प्रकट में ही पर हैं।

कवि गौतम द्वारा विरचित **संबोध पंचासिया** ग्रंथ की गाथा अठारह की टीका में टीकाकार ने बहुत अच्छी उत्प्रेक्षा की है। यथा -

पुद्गलमयं शरीरं कथयति। किम्? अहं पुद्गलमयं शरीरं हुताशन मध्ये प्रज्वलामि, काष्ठाग्निभक्षणं करोमि परन्तु अनेन जीवेन सह न गच्छामि।

अर्थात् :- पुद्गलमय शरीर कहता है। क्या कहता है? मैं पुद्गलमय शरीर अग्नि में जल जाऊंगा, काष्ठाग्नि को भक्षण करूंगा परन्तु इस जीव के साथ नहीं जाऊंगा।

यह शरीर कृतोपकार को विस्मृत करने वाला कृतघ्नी है। इसे कितना ही खिला कर पुष्ट करो, इसको कितनी ही मनोनुकूल वस्तुयें प्रदान करो यह जीव के साथ परभव में गमन नहीं करता। जब स्व-

पोषित तन भी परभव में साथ नहीं जाता, तब क्या मित्रादि प्रत्यक्ष परजीव साथ जा सकते हैं ? नहीं जा सकते ।

जीव के द्वारा उपार्जित किये गये पाप और पुण्य ही जीव के साथ परभव में जाते हैं । उन्हीं के कारण मनुष्य को इष्टानिष्ट संयोग और वियोग, सुख और दुःख प्राप्त होते हैं । अतः शरीर से मोह को हटा कर आत्मविकास में मन को लगाना चाहिये ।

स्वार्थ के कारण से सम्बन्ध होते हैं

शोचन्ते न मृतं कदापि वनिता यद्यस्ति गेहं धनं,
तच्चेन्नास्ति रुदन्ति जीवनधिया स्मृत्वा पुनः प्रत्यहम् ।
कृत्वा तद्दहन क्रियां निज-निजव्यापार चिन्ताकुलाः,
तन्नामापि च विस्मरन्ति कतिभिः सम्वत्सरैः योषिताः ॥१२॥

अन्वयार्थ :-

(यदि) यदि **(गेहे)** घर में **(धनम् अस्ति)** धन है तो **(वनिता)** स्त्रियाँ **(कदापि)** कभी भी **(मृतं न शोचन्ते)** मरे हुए जीव का विचार नहीं करती हैं । **(चेत्)** यदि **(नास्ति)** नहीं हो तो **(प्रति-अहं जीवनधिया)** प्रतिदिन जीवन को धारण करने के लिए **(स्मृत्वा पुनः रुदन्ति)** याद करके रोती हैं । परिजन **(तद्दहनक्रियाम्)** उसकी दहनक्रिया को **(कृत्वा)** करके **(निज-निजव्यापारचिन्ताकुला)** अपने-अपने व्यापार की चिन्ता में आकुलित होते हुए **(तन्नामापि)** उसके नाम को भी **(विस्मरन्ति)** भूल जाते हैं । **(योषिता अपि)** स्त्रियाँ भी **(कतिभिः संवत्सरैः)** कुछ वर्षों में (उसके नाम को भूल जाती है ।)

अर्थ :-

यदि घर में धन है, तब स्त्री मरने का कभी विचार नहीं करती है, यदि धन नहीं है तब जीवन धारण करने के लिए उस मरने वाले को याद करके रोती है । सम्बन्धी लोग उसकी दाह क्रिया करके अपने -अपने व्यापार की चिन्ता से आकुल होते हैं तथा कुछ वर्षों में ही स्त्री उसका नाम भी भूल जाती है ।

भावार्थ :-

यहाँ संसार के स्वार्थीपने को रेखांकित किया गया है। यद्यपि इसमें अतिरंजकता का अनुभव होता है परन्तु कदाचित ऐसा भी संभव है। मनुष्य के मर जाने पर परिवार वाले लोग तो अग्निसंस्कार के तुरन्त बाद ही उसे भूल जाते हैं। यदि घर में धन हो तो पत्नी अधिक दुःख नहीं करती।

कहते हैं कि समय सारे जख्मों का एकमात्र मलहम है। धीरे-धीरे मनुष्य के परिजन मृत्युशोक को भूलकर अपनी पूर्ववत् क्रियाओं में रम जाते हैं फिर मृतक की स्मृति किसी को भी नहीं रहती है।

त्यागी हुई वस्तु को पुनः ग्रहण करने का निषेध

अष्टाविंशतिभेदमात्मनि पुरा संरोप्य साधो व्रतं,
साक्षीकृत्य जिनान् गुरूनपि कियत्कालं त्वया पालितम्।
भङ्गं वाञ्छसि शीतवातविहितो भूत्वाधुना तद्व्रतं,
दारिद्रोपहतः स्ववान्तमशनं भुङ्क्ते क्षुधार्तोऽपि किम्॥१३॥

अन्वयार्थ :-

(साधो!) हे साधो! **(त्वया)** तुम्हारे द्वारा **(पुरा)** पहले **(जिनान्)** जिनेन्द्र की **(गुरून् अपि)** गुरु की भी **(साक्षीकृत्य)** साक्षी करके **(अष्टाविंशति भेदम्)** अट्ठाईस भेद रूप **(व्रत आत्मनि समारोप्य)** व्रतों को आत्मा में आरोपित करके **(कियत्कालम्)** कितने ही कालपर्यन्त **(पालितम्)** पाला गया। **(तद् व्रतम्)** उस व्रत को **(अधुना)** अब **(शीतवातविहितो भूत्वा)** शीतवायु से व्याकुल होकर **(भङ्गं वाञ्छसि)** भंग करना चाहता है **(दारिद्रोपहतः)** दरिद्रता से युक्त **(क्षुधार्तः अपि)** भूखा मनुष्य भी **(किम्)** क्या **(स्व-वान्तम्)** अपने वमन को **(अशनं भुङ्क्ते)** खाता है? अर्थात नहीं खाता है।

[भाव]ार्थ :-

[...] हे साधो! भगवान और गुरु की साक्षी में, पहले तुम्हारे द्वारा [मू]लगुणों को धारण कर कुछ कालपर्यन्त पाला गया था, अब शीतवायु

से विहत (व्याकुल) होकर उन व्रतों को खण्डित करना चाहते हो ? क्या कोई भूख से त्रस्त होकर अपने वमन को खाना चाहता है ? नहीं।

भावार्थ :-

मुनिराज के पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक और सात विशेष गुण ये अट्ठाईस मूलगुण होते हैं तथा बारह तप और बाईस परीषह ये चौंतीस उत्तरगुण होते हैं।

इनमें से मुख्य गुणों को मूलगुण कहते हैं। जो गुण मूलगुणों की रक्षा एवं वृद्धि करते हैं, उन्हें उत्तरगुण कहते हैं।

साधक दीक्षा के समय देव, शास्त्र और गुरु की साक्षी से मूलगुण और उत्तरगुणों की निरतिचार परिपालना करने का संकल्प करता है।

आचार्य भगवन्त मुनिराज को सम्बोधित करते हैं कि - हे मुने ! तुमने दीक्षा ग्रहण करते समय देव, शास्त्र और गुरु की साक्षी से व्रत ग्रहण किये थे। अबतक तुमने उन्हें निरतिचार पाला भी है। आज अत्यधिक शीतलता हो गयी है। शीतवायु से आकुलचित्त वाले होकर तुम व्रतों को खण्डित करना चाहते हो तथा शीत को दूर करने के उपाय स्वरूप अग्नि आदि भोग्य वस्तुओं को ग्रहण करना चाहते हो। विचार तो करो। अज्ञानी, दरिद्री क्षुधातुर व्यक्ति भी अपने वमन को नहीं खाना चाहता। तुम तो ज्ञानी हो। त्यागी हुई वस्तुओं को पुनः ग्रहण करने की भावना क्यों करते हो ? तुम्हें धीरतापूर्वक इन परीषहों को सहन करना चाहिये ताकि कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

धर्म करने की प्रेरणा

अन्येषां मरणं भवानगणयन्स्वस्यामरत्वं सदा ,
देहिन् चिन्तयसीन्द्रियद्विपवशी भूत्वा परिभ्राम्यसि।
अद्य श्वः पुनरागमिष्यति यमो न ज्ञायते तत्वत -
स्तस्यादात्महितं कुरु त्वमचिराद्धर्म्मं जिनेन्द्रोदितम् ॥१४॥

अन्वयार्थ :-

(देहिन् !) हे जीव ! (भवान्) आप (अन्येषां मरणम्) दूसरों के मरण को (अगणयन्) नहीं गिनते हुए (सदा स्वस्थ) हमेशा अपने

(अमरत्वं चिन्तयसि) अमरत्व का चिन्तन करते हो (इन्द्रिय द्विपवशी भूत्वा) इन्द्रिय रूपी हाथी के वश में होकर (परिभ्राम्यसि) घूमते हो (तत्वतः) निश्चय ही (यमः) मृत्यु (अद्य पुनः श्वः) आज या कल (आगमिष्यति) आयेगी (इति न ज्ञायते) ऐसा जाना नहीं जाता है। (तस्मात्) इसलिए (जिनेन्द्रोदितम्) जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित (आत्महितम्) आत्महितकारी (धर्मम्) धर्म को (त्वम्) तुम (अचिरात्) शीघ्र ही (कुरु) करो।

अर्थ :-

हे देहिन्! दूसरे के मरण को न गिनते हुए तू सदैव अपने अमरत्व का विचार करता है और इन्द्रिय रूपी हाथी के वश में होकर परिभ्रमण करता है। आज या कल यम आयेगा, क्या यह पता नहीं है ? इसीलिए तू आत्महितकारी जिनेन्द्रोदित (जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित) धर्म को धारण कर।

भावार्थ :-

जिस जीव का जन्म हुआ है, उसका मरण अवश्य होता है यह ध्रुव सत्य है। प्रत्येक मनुष्य दूसरों के मरण को देखकर प्रतिदिन इस सत्य की प्रतीति कर रहा है। संसार के बड़े-बड़े वीर भी इस मृत्युमल्ल के द्वारा क्षणभर में परास्त हुए हैं। संसार में मृत्युमल्ल ही एक ऐसा मल्ल है, जो दुर्जय है।

आचार्य श्री स्वामी कुमार लिखते हैं -

अइबलिओ वि रउद्दो मरणविहीणो ण दीसदे को वि।
रविखज्जंतो वि सया रक्खप्पयारेहिं विविहेहिं ॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा - २६)

अर्थात् :- आयुकर्म का क्षय होते ही मनुष्य को यह शरीर रूपी किराये का मकान खाली करना पड़ता है। आयुकर्म के क्षयोपरान्त यह जीव इस शरीर में एक पल भी नहीं रह सकता। दूसरों की मृत्यु को देखकर प्रत्येक मनुष्य को ऐसा विचार करना चाहिये कि सभी जीव आयुकर्म के वशवर्ती हैं। अपनी बारी आने पर सब को मृत्यु रूपी सिंह भक्षण करता रहता है। आज यह चला गया। कल मुझे भी जाना पड़ेगा।

मृत्यु संसार का चिरन्तर ध्रुवसत्य है। इसे जानते हुए भी जीव दूसरों की मृत्यु को देखकर सचेत नहीं होता। वह ऐसा विचार करता है कि मानों वह अमर ही रहने वाला हो। इसलिए मनुष्य मृत्यु की चिन्ता किये बिना सांसारिक सुखों के उपभोग में सदैव निमग्न रहता है।

इन्द्रिय रूपी हाथी अट्ठाईस विषय रूपी सूंडों से युक्त है। वह इष्ट अनिष्ट की कल्पना रूपी मद से मत्त हो गया है।आत्मा के सद्गुण रूपी वन को उजाडने के लिए संयम को तोडकर वह इतस्ततः दौड लगा रहा है। उसकी अव्रत रूपी चिंघाड इतनी तीव्र है कि उसकी आवाज को सुनकर चेतनारूपी हिरणी भयाक्रान्त हो रही है। मिथ्यात्व रूपी भौंरें उसके आसपास मंडरा रहे हैं, जिससे उसकी मादकता और बढ रही है।

आचार्य भगवन्त दया से युक्त होकर समझाते हैं कि - हे जीव! इस बात को कोई भी संसारी प्राणी नहीं जानता कि उसकी मृत्यु किस पल होने वाली है। इसलिए उसे प्रतिपल सजग रहना चाहिये। क्या पता कि अगला पल उसे देखने मिले या न मिले ? इसलिए मृत्युमल्ल का नाश करने में समर्थ ऐसे जिनेन्द्रकथित धर्म का आचरण करके उसे अपने जीवन को सफल बना लेना चाहिये।

मोह का त्याग करने की प्रेरणा

सौख्यं वाञ्छसि किन्त्वया गतभवे दानं तपो वा कृतं,
नोचेत्त्वं किमिहैवमेव लभसे लब्धं तदत्रागतम्।
धान्यं किं लभते विनापि वपनं लोके कुटुम्बीजनो,
देहे कीटकभक्षितेक्षुसदृशे मोहं वृथा मा कृथाः ॥१५॥

अन्वयार्थ :-

(त्वम्) तुम **(सौख्यं वाञ्छसि)** सुख को चाहते हो। **(किम्)** क्या **(त्वया)** तुम्हारे द्वारा **(गतभवे)** पूर्वभव में **(दानं वा तपः)** दान अथवा तप **(कृतम्)** किया गया ? **(नो चेत्)** यदि नहीं तो **(किम् इह एवमेव)** अब इसलोक में किसप्रकार **(लभसे)** प्राप्त कर सकते हो ? **(लोके)** लोक में **(लब्धं तत् अत्र आगतम्)** जो किया है वही साथ में आया है।

(कुटुम्बीजनः) कुटुम्बीजन भी **(किं वपनं विनापि)** क्या बोये बिना ही **(धान्यं लभते)** धान्य पाते हैं ? **(कीटकभक्षित)** कीड़ों के द्वारा खाये गये **(इक्षु सदृशे)** गन्ने के समान **(देहे)** शरीर में **(वृथा मोहम्)** व्यर्थ में ही मोह **(मा कृथाः)** मत करो।

अर्थ :-

हे जीव ! तुम सुख चाहते हो ? क्या तुमने पूर्व भव में दान अथवा तप किया है ? यदि नहीं, तो इस लोक में सुख कैसे मिलेगा ? जैसा तुमने किया, वैसा ही इस लोक में आ गया। क्या कुटुम्बीजन भी बिना कुछ बोये धान्य प्राप्त कर सकते हैं ? कीड़ों के द्वारा खाये गये गन्ने के समान इस शरीर में तुम व्यर्थ ही मोह मत करो।

भावार्थ :-

सातावेदनीय का उदय तथा लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम आदि निमित्तों की प्राप्ति होने पर संसार के सुखों की प्राप्ति होती है। बीज के समान ही वृक्ष होता है। यह सर्वमान्य लोकोक्ति प्रसिद्ध है।

जीव जैसा करता है, वैसा ही भोगता है। जिसने पूर्वभव में सत्पात्रों को दान नहीं दिया है व इच्छा के निरोध रूप तप नहीं किया है, तो उसे इसभव में सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि जीव कृतकर्मों का फल अवश्य ही भोगता है।

इस शरीर की स्थिति कीड़े लगे हुए या काने गन्ने की तरह है। इससे रत्नत्रय की प्राप्ति कर लेना ही बुद्धिमत्ता है।

कविवर श्री मंगतराय जी लिखते हैं कि :-

काना पौंडा पड़ा हाथ यह चूसै तो रोवै।
फलै अनंत जु धर्मध्यान की भूमि विषै बोवै॥
केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी।
देह परसतै होय अपावन निशदिन मल जारी॥

(बारह भावना - १५)

शरीर निःसार द्रव्यों से भरा हुआ है। जैसे काना गन्ना बोने पर मीठा गन्ना प्राप्त होता है, उसीप्रकार शरीर को तप में लगाने पर वह शाश्वत सुख रूपी गन्ने को प्रदान करता है।

जो शरीर के स्वरूप को जाने बिना उस पर मोह करता है वह अपने जीवन को व्यर्थ खो देता है।

कैसा है यह शरीर ? इस शरीर के स्पर्श होने से केशर, चन्दन, पुष्प एवं सुगन्धित वस्तुयें अपवित्र हो जाती है, इस शरीर से प्रतिदिन, प्रतिसमय लगातार मल बहता रहता है।

अतः भव्य जीव को शरीर का मोह छोडकर आत्मोद्धार कर लेना चाहिये।

मनुष्यायु कैसे व्यतीत होती है ?

आयुष्यं तव निद्रयार्द्धमपरं चायुस्त्रिभेदादहो ,
बालत्वे जरया किमद् व्यसनतो यातीति देहिन् वृथा।
निश्चित्यात्मनि मोहपाशमधुना संछिद्य बोधासिना ,
मुक्तिश्रीवनितावशीकरणसच्चारित्रमाराधय ॥१६॥

अन्वयार्थ :-

(अहो) अहो **(देहिन् !)** हे शरीरधारी! **(तव)** तुम्हारी **(अर्धमायुष्यम्)** आधी आयु **(निद्रया)** निद्रा में **(अपरम्)** अन्य **(बालत्वे जरया)** बाल और वृद्धावस्था में तथा **(कियद् व्यसनतः)** कुछ व्यसनों से, इसप्रकार **(त्रिभेदात्)** तीन प्रकार से **(वृथा याति)** व्यर्थ हो जाती है। **(अधुना)** अब **(आत्मनि)** आत्मा में **(निश्चित्य)** निश्चय करके **(बोध असिना)** ज्ञान रूपी तलवार से **(मोहपाशं संछिद्य)** मोहपाश का छेदन करके **(मुक्तिश्रीवनितावशीकरण)** मुक्तिरूपी लक्ष्मी को वशीभूत करने वाले **(सच्चारित्रम्)** सम्यक चारित्र की **(आराधय)** आराधना करो।

अर्थ :-

हे देहिन्! अहो, तेरा आधा आयुष्य निद्रा में, दूसरा आधा आयुष्य बालपन और बुढापे में, कुछ व्यसनों में, इन तीन प्रकारों से व्यर्थ हो जाता है। इसप्रकार अब स्वयं निश्चय करके ज्ञान रूपी तलवार से मोहपाश का छेदन करके मुक्तिश्री को वश में करने के लिए सच्चारित्र की आराधना करो।

भावार्थ :-

मनुष्य पर्याय की प्राप्ति होना अतिशय कठिन है। अतिशय शुभकर्म का उदय इस पर्याय की प्राप्ति का हेतु है। मनुष्य के पास पर्याप्त शारीरिक बल है, मस्तिष्क की अद्भुत विभूति है, समस्त साधनसामग्री को या तो उसे प्रकृति ने प्रदान कर दिया है या मनुष्य ने अपने पुरुषार्थ से प्राप्त कर लिया है। मनुष्य के पास पाप और पुण्य करने की पूर्ण सामर्थ्य है तथा दोनों का विनाश करके मोक्ष प्राप्त करने की क्षमता भी। प्रत्येक क्षण आ रहा है और जा रहा है। एक समय ऐसा आयेगा कि आयुकर्म का यह कच्चा धागा टूट जायेगा और मनुष्य को शरीर का पिंजरा छोडना पडेगा। अमूल्य पर्याय व्यर्थ में ही नष्ट हो जायेगी।

ग्रंथकर्त्ता समझाते हैं कि - आधा आयुष्य निद्रा में व्यतीत हो जाता है। शेष आधी आयु बालपन, वृद्धावस्था और व्यसनों में व्यतीत हो जाती है। यदि तुम चाहते हो कि यह आयु सफल हो जाये तो मोह रूपी पाश को ज्ञान रूपी तलवार से छेद दो। मोक्षलक्ष्मी को वश में करने के लिए चारित्र का आचरण करो।

परीषह सहन करना चाहिये

यत्काले लघुपात्रमण्डितकरो भूत्वा परेषां गृहे,
भिक्षार्थं भ्रमसे तदा हि भवतो मानापमानेन किम्।
भिक्षो तापसवृत्तितः कदशनात् किं तप्यसेऽहर्निशम्,
श्रेयार्थं किल सह्यते मुनिवरैर्बाधा क्षुधाद्युद्भवाः ॥१७॥

अन्वयार्थ :-

(भिक्षो!) हे साधो! **(यत्काले)** जिससमय **(लघुपात्रमण्डितकरो भूत्वा)** हाथ को छोटा-सा पात्र बनाकर **(परेषां गृहे)** दूसरों के घर **(भिक्षार्थं भ्रमसे)** भिक्षा के लिए भ्रमण करते हो **(तदा हि)** तब **(भवतः)** आपको **(मानापमानेन किम्)** क्या मान और क्या अपमान ? **(अहर्निशम्)** दिन-रात **(तापसवृत्तितः)** तापस-वृत्ति से **(कदशनात्)** अनिष्ट भोजन से **(किं तप्यसे)** क्यों दुःखी होते हो ? **(मुनिवरैः)** श्रेष्ठ मुनिजन **(किल)** निश्चय से **(श्रेयार्थम्)** श्रेय के लिए **(क्षुधाद्युद्भवा**

बाधा सहते) क्षुधा आदि से उत्पन्न होने वाली बाधाओं को सहन करते हैं।

अर्थ :-

हे भिक्षो ! जब हाथ को छोटा भोजन का पात्र बनाकर दूसरों के गृह में भिक्षार्थ भ्रमण करते हो, तब तुम्हें मानापमान से क्या प्रयोजन है ? अहर्निश तापसवृत्ति के कारण कु-भोजन से तुम दुःखित क्यों होते हो ? मुनिगण अवश्यमेव श्रेयार्थ क्षुधादिक से उत्पन्न बाधाओं को सहन करते हैं।

भावार्थ :-

मुनिराज बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी होते हैं। अतः वे अपने पास भोजन के लिए कोई पात्र आदि भी नहीं रखते हैं। जब वे आहार करते हैं, तब वे अपने दोनों हाथों को मिलाकर उसे एक पात्र का रूप देते हैं और उसी करपात्र में स्निग्ध-रुक्ष, इष्ट-अनिष्ट अथवा स्वादिष्ट-नीरस यथालब्ध आहार को ग्रहण करते हैं।

आचार्य भगवन्त समझाते हैं कि - हे मुने ! जब तुम पराये घर में भोजन ग्रहण कर रहे हो तो मानापमान का विकल्प छोड दो। उनोदर, रसपरित्याग अथवा अशुभ कर्मोदय से भर पेट भोजन न मिलने पर अथवा रुचिकर भोजन की प्राप्ति नहीं होने पर विषाद मत करो।

मुनिराज के बाईस परीषहों पर विजय और बारह तपों का परिपालन ये चौंतीस उत्तरगुण हैं। मुनिराज मूलगुणों के परिपालन के साथ-साथ उत्तरगुणों की परिपालना में मन को लीन करते हैं। आत्मकल्याण के लिए वे क्षुधा और तृषा से उत्पन्न होने वाले महान कष्टों को भी शान्त परिणामों से सहन करते हैं। मन में मलीनता को प्रवेश नहीं करने देना, यही उनका महान तप है।

संघ में रहने का आदेश

एकाकी विहरत्यनस्थितबलीवर्दो यथा स्वेच्छया ,
योषामध्यरतस्तथा त्वमपि भो त्यक्त्वात्मयूथं यते ।

तस्मिंश्चेदभिलाषता न भवतः किम्भ्राम्यसि प्रत्यहं ,
मध्ये साधुजनस्य तिष्ठसि न किं कृत्वा सदाचारताम् ॥१८॥

अन्वयार्थ :-

(यथा) जिसप्रकार **(अनस्थित बलीवर्दः)** स्थिति से रहित बैल **(योषामध्य रतः)** स्त्रियों में आसक्त होता हुआ **(आत्मयूथं त्यक्त्वा)** अपने समूह को छोडकर **(स्वेच्छया)** स्वेच्छापूर्वक **(एकाकी विहरति)** एकाकी विचरण करता है।

(भो!) हे साधो! **(तथा)** उसीप्रकार **(त्वमपि)** तुम भी घूम रहे हो। **(यदि)** यदि **(भवतः)** आपकी **(तस्मिन्)** वैसी **(अभिलाषा न)** अभिलाषा नहीं है **(तर्हि)** तो फिर **(प्रति अहम्)** प्रतिदिन **(साधुजनस्य मध्ये)** साधुओं के मध्य में **(कृत्वा सदाचारताम्)** सदाचार का पालन करते हुए **(किं न तिष्ठसि ?)** क्यों नहीं रहते हो ? **(किं भ्राम्यसि)** क्यों भटकते हो ?

अर्थ :-

जैसे अनस्थित (स्थितिरहित) बलिष्ट बैल स्त्रियों में आसक्त होता हुआ अपने यूथ को छोडकर स्वेच्छा से एकाकी घूमता है, वैसे तुम भी घूम रहे हो। यदि उनमें तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो तुम साधुजनों के मध्य में क्यों नहीं रहते हो ?

भावार्थ :-

जिनकल्पी और स्थविरकल्पी के भेद से मुनियों के दो भेद हैं। जिन्होंने राग, द्वेष और मोह रूपी शत्रुओं को जीत लिया है, जो चतुर्विध उपसर्ग और बाईस प्रकार के परीषह रूपी शत्रु पर विजय को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, जो जिनेन्द्र भगवान के समान विहार करते हैं, जो उत्तम संहनन के धारी होते हैं और सामायिक रूप चारित्र का परिपालन करते हैं, वे मुनि जिनकल्पी कहलाते हैं। ये मुनि एकाकी विचरण किया करते हैं। वे मुनि धृतिगुणसम्पन्न, श्रुतबल से परिपूर्ण, एकत्वभावना में रत, तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, आचरण कुशल और परमनिस्पृहत्व आदि गुणों के धारक होते हैं।

स्थविरकल्पी मुनिराज छहों संहननों में से किसी एक संहनन के धारक होते हैं। इनमें सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र पाये जाते हैं। अपने संहनन के अनुसार ये मुनि कायक्लेशादि तपों का अनुष्ठान करते हैं। यद्यपि इनका चारित्र, श्रुत और श्रद्धान भी परम प्रशंसनीय होता है तथापि वे उत्तम संहनन के अभाव में घोरोपसर्ग सहन करने में सक्षम होते भी हैं और नहीं भी। चारित्र का परिपालन करते हुए कषायोद्रेक न हो, प्रमाद चारित्र को दूषित न करे और अशुभोपयोग का जन्म न हो इसलिए चतुर्विध संघ के मध्य में वास करते हैं। इससे इन्हें अपूर्व श्रुतलाभ भी होता है।

किसप्रकार का आचरण करने वाले मुनिराज को अकेले नहीं रहना चाहिये ? इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री वट्टकेर लिखते हैं कि -

सच्छंदगदागदीसयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी ॥

(मूलाचार-१५०)

अर्थात् :- गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मलमूत्रादि विसर्जन करना - इन कार्यों में जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला है, और बोलने में भी स्वच्छन्द रुचि वाला है, ऐसा मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे।

ऐसे मुनि को आचार्यदेव पापश्रमण कहते हैं। पापश्रमण जिनाज्ञा प्रणाश, अनवस्था, मिथ्यात्वोपसेवन, आत्मनाश, लोकनिन्दा और संयमविराधना आदि दोषों का आगार बन जाता है।

ऐसे मुनिराज को सम्बोधित करते हुए यहाँ ग्रंथकार कहते हैं कि - हे मुने ! जिसप्रकार बैल स्त्रियों में आसक्त होकर अपने यूथ को छोड़कर एकाकी विहार करता है, उसीप्रकार तुम्हें स्वच्छन्दतापूर्वक गमन नहीं करना चाहिये।

मूलाचार में सदाचार के लिए समता, समाचार, सम्माचार, सम्मानाचार और सम्यक् आचारादि शब्दों का प्रयोग पाया जाता है।

उनका अर्थ निम्नप्रकार से है -

१. समता :- राग और द्वेष का अभाव समता है।

२. समाचार :- महाव्रतों का निर्दोष पालन समाचार है।
३. सम्माचार :- मूलोत्तरगुणों का परिपालन निरतिचार करना।
४. सम्मानाचार :- विनयाचार पूर्वक अपने क्रियानुष्ठान करना।
५. सम्यक् आचार :- लोक व आगम के अनुकूल आचरण करना।

आशय यह है कि मुनिराज को अपने पद के अनुकूल कार्य करने चाहिये।

शरीर से निर्ममत्व रहने की प्रेरणा

क्रीतान्नं भवता भवेत् कदशनं रोषस्तदाश्लाघ्यते,
भिक्षायां यदवाप्यते यतिजनैस्तद्भुज्यतेऽत्यादरात्।
भिक्षो भाटकसद्मसन्निभतनोः पुष्टिं वृथा मा कृथाः,
पूर्णे किं दिवसावधौ क्षणमपि स्थातुं यमो दास्यति ॥१९॥

अन्वयार्थ :-

(कदशनम्) अरुचिकर भोजन **(भवता)** यदि आपके द्वारा **(क्रीतान्नं भवेत्)** खरीदा हुआ हो **(तदा)** तब **(रोषः)** क्रोध करना **(श्लाघ्यते)** प्रशंसनीय है। **(भिक्षायाम्)** भिक्षा में **(अति-आदरात्)** अत्यन्त आदर से **(यत् अवाप्यते)** जो प्राप्त होता है **(यतिजनैः)** यतिगण **(तद् भुज्यते)** उसे खाते हैं।

(भिक्षो!) हे भिक्षुक! **(भाटक सद्म सन्निभ)** किराये के मकान के समान **(तनोः)** इस शरीर की **(वृथा)** व्यर्थ में ही **(पुष्टिं मा कृथाः)** पुष्टि मत करो। **(दिवसावधौ पूर्णे)** आयु की अवधि पूर्ण हो जाने पर **(किम्)** क्या **(क्षणमपि)** क्षण भर भी **(यमो)** यमराज **(स्थातुं दास्यति)** ठहरने देगा? अर्थात् ठहरने नहीं देगा।

अर्थ :-

यदि अरुचिकर भोजन आपके द्वारा क्रीत हो अर्थात् खरीदा हुआ हो तब आपका क्रोध करना भी प्रशंसनीय हो सकता है। भिक्षा में अति आदर से जो प्राप्त होता है, यतिजन उसे खाते हैं। किराये में लिये हुए घर के समान यह शरीर है। इसे वृथा ही पुष्ट मत करो। आयुष्य की

समाप्ति पर क्या यम तुम्हें क्षणभर के लिए भी ठहरने देगा ? अर्थात् आयुष्य के समाप्त हो जाने पर इस शरीर का त्याग करना ही पड़ेगा।

भावार्थ :-

एषणासमिति पूर्वक आहार करने वाले मुनिराज आहार में भी निस्पृह होते हैं। वे छयालीस दोषों का निवारण करते हुए आहार लेते हैं। उनके आहार ग्रहण करने के छह कारण होते हैं। यथा -

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं॥

(मूलाचार :- ४७९)

अर्थात् :- वेदना के शमन के लिए, वैय्यावृत्ति के लिए, क्रियाओं परिपालन करने के लिए, संयम की निर्मलता के लिए तथा प्राणों की और धर्म की चिन्ता के लिए इन कारणों से मुनिराज आहार करें।

आहार लेना मुनियों के लिए इसलिए आवश्यक है कि उसके बिना मुनिराज अपने शरीर रूपी रथ को मोक्ष महल तक नहीं ले जा सकेंगे। भोजन आवश्यक होते हुए भी मुनि उसमें आसक्त नहीं होते। वे निर्दोष दाता के हाथों से छियालिस दोषों से रहित आहार लेते हैं। चौदह मलदोष को टालकर और बत्तीस अन्तरायों को पालकर वे अपनी आहारचर्या करते हैं।

आहार करते समय अपने स्वाभिमान की रक्षा करने हेतु मुनिराज मौन ही रखते हैं। उससमय हुंकार भरना, इशारे करना आदि कार्यों को छोड़कर इष्ट और अनिष्ट, जैसा भी आहार मिलता है, वे शान्त परिणामों से ग्रहण करते हैं।

मुनिराज अनियत आहार-विहारी होते हैं। अनेक ग्राम-नगरों में विहार करते समय उन्हें विवेकी अथवा विवेकहीन श्रावक के द्वारा अनुकूल अथवा प्रतिकूल आहार प्राप्त होता है। वे उसमें हर्ष विषादादि नहीं करते। यदि कदाचित आहार का लाभ नहीं हुआ तो भी वे मुनि रुष्ट नहीं होते। मैंने अज्ञानतावश पूर्वभव में जो दुष्कृत्य किये थे, उसका फल आज मुझे प्राप्त हो रहा है, ऐसा मानकर वे मुनि मन में समताभाव को धारण करते हैं।

कोई मुनि अनिष्ट आहार प्राप्त होने पर क्या चिन्तन करें ? श्रावक मुझे अभिमान से आहार दे रहा है। मैं इस अन्न को खरीद नहीं रहा हूँ। यदि यह भोजन मुझे खरीदना होता तो उसमें मनोनुकूलता को ढूंढना उचित होता। खरीदते समय यदि अनुकूल वस्तुयें प्राप्त नहीं होती हैं तो क्रोध आना स्वाभाविक भी है क्योंकि अपना पैसा लगाया जा रहा है। मैं कुछ दे नहीं रहा हूँ फिर क्रोध करने का मुझे क्या अधिकार है ? ऐसा चिन्तन करके मुनिराज अपने क्रोध का शमन करें।

यह तन किराये के मकान के समान है। जिसदिन गृहस्वामी घर को खाली करने का आदेश देगा तो किरायेदार को घर खाली करना पड़ेगा, उसीप्रकार जब आयुकर्म पूर्ण हो जायेगा, यह शरीर छोडना पड़ेगा। आयु के समाप्त होने पर इस शरीर में एक क्षण भी निवास नहीं हो सकता। इसलिए आत्मसाधक को शरीरपुष्टि का विकल्प नहीं करना चाहिये तथा इस शरीर के द्वारा शीघ्रातिशीघ्र आत्मकल्याण करने का प्रयत्न करना चाहिये।

उनका जीवन निष्फल हो जाता है

लब्ध्वार्थं यदि धर्म्मदानविषये दातुं न यैः शक्यते,
दारिद्रोपहतास्तथापि विषयासक्तिं न मुञ्चन्ति ये।
धृत्वा ये चरणं जिनेन्द्रगदितं तस्मिन्सदानादरा-
स्तेषां जन्मनिरर्थकं गतमजाकण्ठे स्तनाकारवत् ॥२०॥

अन्वयार्थ :-

(यदि अर्थ लब्ध्वा) यदि धन को प्राप्त करके **(यैः)** जो **(धर्मदानविषये)** धर्म और दान के करने में **(दातुं न शक्यते)** दे नहीं सकते **(ये दारिद्रोपहताः)** जो दरिद्रता से युक्त है **(तथापि)** फिर भी **(विषयासक्तिम्)** विषयों की आसक्ति को **(न मुञ्चन्ति)** नहीं छोड़ते हैं। **(ये जिनेन्द्रगदितम्)** जो जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित **(चरणं धृत्वा)** चारित्र को धारण करके **(तस्मिन्)** उसमें **(सदा)** हमेशा **(अनादराः)** अनादर करते हैं **(तेषाम्)** उनका **(जन्म)** जन्म **(अजाकण्ठे स्तना**

कारवत्) बकरी के कण्ठ में लगे हुए स्तन के समान (निरर्थकं गतम्) निरर्थक हो जाता है।

अर्थ :-

अर्थ को प्राप्त करके भी जो धर्मकार्य में नहीं देते हैं, जो दरिद्रता से उपहत (युक्त) होते हुए भी विषयासक्ति नहीं छोड़ते हैं, जो जिनेन्द्र के द्वारा प्ररूपित धर्म को प्राप्त करके भी उसमें सदैव अनादर भाव रखते हैं, उनका जन्म बकरी के गले में लगे हुए स्तन के समान निरर्थक है।

भावार्थ :-

संसार में तीन तरह के मनुष्यों का जन्म निरर्थक हो जाता है।

१. जिनके पास प्रचुरमात्रा में सम्पदा है, परन्तु उसका उपयोग धर्म कार्य और पात्रदान के लिए नहीं होता है। उनके पास धन का होना या नहीं होना समान ही है। पूर्वकृत् पुण्यकर्म का उदय होने पर धन का लाभ होता है। धन एक साधन है। उसके द्वारा पुण्य अथवा पाप का अर्जन किया जा सकता है। विषयभोगों के लिए व्यय हुआ धन पापों का सृजक है और धर्मकार्य तथा पात्रदान में लगा हुआ धन पुण्य रूपी कल्पवृक्ष की वृद्धि करता है। इस संसार में धन को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। जिनके पास धन हो, उनमें दान की भावना उत्पन्न होना उससे भी कठिन है। दान करने की इच्छा हो और सत्पात्र का समागम हो जाये यह संयोग तो महादुर्लभ है। जिन जीवों को ऐसे अवसर प्राप्त होते हैं और फिर भी वे दानधर्म में प्रवृत्ति न करें तो उनका धन व्यर्थ ही है।

२. कुछ लोग अपने स्वोपार्जित पापोदय से निर्धन अवस्था को प्राप्त होते हैं। उन जीवों के पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कराने वाले साधन भी नहीं होते हैं। दरिद्रता उनके ओज, तेज, प्रभाव आदिक समस्त गुणों का हरण कर लेती है। उनके पास परिजन और मित्रजनों का भी अभाव होता है। वे फटे हुए और मैले हुए वस्त्रों को पहनने के लिए विवश होते हैं। उनका जीवन दूसरों की किंकरता को करते-करते ही समाप्त हो जाता है। सारे तत्त्वविद् कहते हैं कि दरिद्रता से बढ़कर कोई दुःख नहीं है। दरिद्र व्यक्ति के पास शरीर रूपी धन है। उस धन के द्वारा वह धर्म करके पुण्यार्जन कर सकता है। यदि दरिद्र मनुष्य अपनी

विषयासक्ति पर अंकुश लगा ले अर्थात् तपोमार्ग में प्रवृत्त हो जावे तो भी वह अपने जीवन को सार्थक कर सकता है। जो स्वस्थ शरीर को पाकर भी विषयासक्ति को नहीं छोड़ता, उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है।

१. इस अनादि संसार में जीव को मनुष्य पर्याय का लाभ अत्यन्त कठिनता से होता है। उसमें भी उच्चकुल, दीर्घायु, आरोग्यसम्पन्नता और धर्मभावना का होना कठिन है।

आचार्य श्री स्वामी कुमार लिखते हैं -

इय सव्व दुलहं-दुलहं दंसणणाणं तहा चरित्तं च।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा - ३०१)

अर्थात् :- इसलिए जिसे चारित्र की प्राप्ति हो गयी है वह धन्य है। मोक्ष का साक्षात् कारण चारित्र है। उसको प्राप्त करके भी जो उसका आदर नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है!

आचार्य भगवन्त समझाते हैं कि जो जीव धन पाकर दान नहीं करता, तन पाकर चारित्र का पालन नहीं करता और चारित्र को प्राप्त करके भी उसमें आदर नहीं करता उन तीन तरह के जीवों का जीवन ठीक उसीप्रकार व्यर्थ है जैसे बकरी के गले के स्तन व्यर्थ होते हैं।

दुर्लभत्व का बोध

लब्ध्वा मानुषजातिमुत्तमकुलं रूपं च नीरोगतां,
बुध्दिधीधनसेवनं सुचरणं श्रीमज्जिनेन्द्रोदितम्।
लोभार्थं वसुपूर्णहेतुभिरलं स्तोकाय सौख्याय भो ,
देहिन्देहसुपोतकं गुणभृतं भंक्तुं किमिच्छास्ति ते॥२१॥

अन्वयार्थ :-

(भो) हे मुने! **(मानुषजाति)** मनुष्यजाति **(उत्तमकुलम्)** उत्तम कुल **(रूपम्)** रूप **(निरोगताम्)** आरोग्य **(बुद्धि)** बुद्धि **(धीधन - सेवनम्)** पण्डितों के द्वारा सेवा **(श्रीमज्जिनेन्द्रोदितम्)** श्री जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा कथित **(सुचरणम्)** सम्यक् चारित्र को **(लब्ध्वा)** प्राप्त करके **(वसुपूर्णहेतुभिः)** धन की पूर्णता के लिए **(लोभार्थम्)** लोभ के

कारण (स्तोकाय सौख्याय) अल्प सुख की प्राप्ति के लिए (गुणभृतम्) गुणों से भरे हुए (देहसुपोतकम्) देह रूपी इस उत्तम जहाज को (भंक्तुं अलम्) तोड़ने की (ते) तुम्हारी (इच्छा किमस्ति) इच्छा क्यों हो रही है ?

अर्थ :-

मनुष्यजाति, उत्तम कुल, रूप, निरोगता, बुद्धि, विद्वानों के द्वारा सेवा, श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित चारित्र को प्राप्त कर किंचित् सुख के लिये गुण से भरे हुए शरीर रूपी जहाज को नष्ट करने की इच्छा तू क्यों कर रहा है ? (तू उसका क्यों दुरुपयोग कर रहा है ?)

भावार्थ :-

इस संसारचक्र में अनादिकाल से परिभ्रमण करता हुआ यह जीव अनन्त कालपर्यन्त निगोद पर्याय में वास करता रहा है। किसी प्रकार वहाँ से निकल गया तो बहुकाल स्थावर पर्याय में व्यतीत हो गया। स्थावर पर्याय से निकलकर कभी ये जीव द्वो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव अर्थात् विकलत्रय बन जाता है। यहाँ पर भी बहुत काल व्यतीत हो जाता है। कभी पचेन्द्रिय भी हुआ तो तिर्यंच, नारकी अथवा देव होकर काल व्यतीत करता रहा।

मनुष्यपर्याय को प्राप्त करना कितना कठिन है, इसे सोदाहरण स्पष्ट करते हुए स्वामी कुमार लिखते हैं कि -

रयणं चउप्पहे पि व मणुयत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय।

(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-२९०)

तथा

रयणुव्व जलहि पडियं मणुयत्तं तं पि अइदुलहं।

(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-२९७)

अर्थात् :- **जिसप्रकार चौराहे पर गिरे हुए रत्न का हाथ आना दुर्लभ है, उसीप्रकार मनुष्यभव भी अत्यन्त दुर्लभ है।**

अथवा, जिसप्रकार समुद्र में गिर गये रत्न की प्राप्ति होना दुर्लभ है, उसीप्रकार मनुष्य भव को प्राप्त करना दुर्लभ है।

मनुष्यपर्याय को प्राप्त करके भी उत्तम कुल, रूप, आरोग्यसम्पन्नता,

बुद्धि और बुद्धिमानों का समागम दुर्लभ है । उन सब का संयोग प्राप्त होने पर भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तथा सम्यग्ज्ञान का लाभ होना कठिन है । उन दोनों के प्राप्त होने पर भी चारित्र की प्राप्ति भजनीय है अर्थात हो अथवा न भी हो । जिनको चारित्र की प्राप्ति हो गयी, उनका जीवन इस संसार में अतिशय धन्य है ।

आचार्य भगवन्त मुनियों को सम्बोधित कर रहे हैं कि – हे मुने ! दुर्लभ से दुर्लभ चारित्ररत्न की प्राप्ति तुम्हें हुई है । उसको प्राप्त करके अर्थलाभ के लोभ में उसे व्यर्थ मत करो । जो चारित्र मोक्ष दे सकता है, शाश्वतसुख को प्रदान कर सकता है, उससे तुच्छ वैभव की चाहना करना बुद्धिमत्ता नहीं है । यदि आप चारित्र को प्राप्त करके भी लोभ को धारण कर रहे हो तो ठीक वैसा ही होगा जैसे कोई नाविक रत्नों से भरे हुए नाव को डूबाने का प्रयत्न कर रहा हो । अतः आपको चारित्र की सुरक्षा निस्पृह होकर करनी चाहिये ।

स्त्री संगति का निषेध

वेतालाकृतिमर्ध्ददग्धमृतकं दृष्ट्वा भवन्तं यते ,
यासां नास्ति भयं त्वया सममहो जल्पन्ति तास्तत्पुनः।
राक्षस्यो भुवने भवन्ति वनिता मामागता भक्षितुं ,
मत्वैवं प्रपलाप्यतां मृतिभया त्वं तत्र मा स्थाः क्षणम् ॥२२॥

अन्वयार्थ :–

(**वेतालाकृतिम्**) वेताल की आकृति वाले (**अर्धदग्धमृतकम्**) अधजले मुर्दे के समान (**भवन्तम्**) आपको (**दृष्ट्वा**) देखकर (**यासाम्**) जिनको (**भयं नास्ति**) भय नहीं है (**अहो !**) अरे ! (**त्वया सह**) तुम्हारे साथ (**तद् जल्पन्ति**) वे बोलती हैं (**ताः वनिताः**) वे स्त्रियाँ (**भुवने**) इस संसार में (**राक्षस्यो भवन्ति**) राक्षसी हैं । (**माम्**) मुझे (**भक्षितुं आगता**) खाने के लिए आयी हैं (**एवं मत्वा**) ऐसा मानकर (**मृति भयात्**) मरण के भय से (**प्रपलाप्यताम्**) शीघ्र भाग जाओ (**त्वम्**) तुम (**तत्र**) वहाँ पर (**क्षणं मा स्थाः**) क्षणभर भी मत ठहरो ।

अर्थ :-

वेताल (प्रेत की) आकृति वाले, अधजले मृतक के समान तुम्हें देखकर जिनको भय नहीं है, तुम्हारे समक्ष बात करती हैं, ऐसी वे स्त्रियाँ धरती पर राक्षसियों के समान हैं। वे मुझे खाने आयी हैं ऐसा मानकर मरण के भय से तू भाग जा, वहाँ एक पल भी मत रह।

भावार्थ :-

संभाषण प्रीति का बीज है। नीतिकारों के मतानुसार भी लेना, देना, खाना, खिलाना, बोलना और सुनना ये छह प्रीति के उत्पादक कारण हैं। स्त्रीविषयक यह प्रीति आगे चलकर धीरे-धीरे वासना का रूप ले सकती है। चरणानुयोग पद्धति आत्मनाश के कारणों को प्रारंभ में ही दूर करने की शिक्षा देती है। इसी बात को ध्यान में रखकर यहाँ इस श्लोक का अवतरण हुआ है।

स्त्री की निन्दा करना, यह उद्देश्य ग्रंथकार का नहीं है क्योंकि साधु परनिन्दा जैसे दुष्कर्म का आचरण नहीं करते हैं। यहाँ साधु को वैराग्य में प्रवृत्ति कराने के लिए और स्त्रियों से दूर हटने के लिए प्रेरित किया गया है।

शंका :- स्त्री को राक्षसी कहना तो निन्दायुक्त वचन ही है।

समाधान :- श्लोक का प्रत्येक विशेषण विलोकनीय है। मुनिराज रत्नत्रय से पवित्र होते हैं। मोक्षमार्ग के पथिक मुनिराज जो कि जगत् में सर्वपूज्य हैं, उनके लिए वेतालाकृति और अर्धदग्धमृतक ये दो विशेषण उनके शरीर की मलिनता को देखकर दिये गये हैं। उनमें भी अनुराग को उत्पन्न करने वाली स्त्री कौन होगी ? वेताल की अनुरागिनी मानुषी तो हो नहीं सकती क्योंकि वेताल से राक्षसी का ही प्रेम होता है। इसतरह विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध जोडकर विचार करने पर मुनि के तन को कुरूप और स्त्री को दुष्टा ऐसा आचार्य देव कह रहे हैं यह अर्थ स्पष्ट होता है।

भावार्थ यह है कि आहारादि का यथेष्ट लाभ न होने के कारण तथा कठोर तपश्चर्या के कारण मुनि का शरीर अस्थिकंकाल अर्थात् हड्डियों का पुतला मात्र रह जाता है। स्नानादिक क्रियाओं के न करने से सर्वांग

जल्ल और मल से पूरित हो जाता है। इससे उनका शरीर कुरूप होता है। अस्थिकंकालत्व और कुरूपता ये दो लक्षण प्रेत में पाये जाते हैं। अतः यहाँ मुनिराज के शरीर को प्रेत की उपमा दी है।

प्रेत से वार्तालाप करने के लिए राक्षसी के समान दुष्ट मना व हिम्मत वाली स्त्री ही चाहिये। अतः यहाँ स्त्री को राक्षसी की उपमा दी गई है।

आचार्य भगवन्त समझाते हैं कि - हे मुने! स्त्री रूपी राक्षसी मुझे अर्थात् मेरे रत्नत्रय को, धर्म को या मोक्षपुरुषार्थ को खाने के लिए आयी है ऐसा विचार करके आप उसकी संगति में एक पल भी मत रुको।

आत्मनाश या संयमनाश ही साधु का मरण है। मरण के भय से मनुष्य दूर-दूर भागता है, अतः साधना का मरण न हो इसलिए हे मुने! आप स्त्री रूपी राक्षसी से दूर भागो। उनकी संगति में एक क्षण भी व्यतीत मत करो।

स्त्रियों पर विश्वास करने का निषेध

मागास्त्वं युवतीगृहेषु सततं विश्वासतां संशयो,
विश्वासे जनवाच्यतां भवति ते नश्येत् पुमर्थ ह्यतः।
स्वाध्यायानुरतो गुरूक्तवचनं शीर्षे समारोपय-
स्तिष्ठ त्वं विकृतिं पुनर्व्रजसि चेद्यासित्वमेव क्षयम् ॥२३॥

अन्वयार्थ :-

(त्वम्) तुम **(सततम्)** हमेशा **(युवतीगृहेषु)** स्त्रियों के घर में **(विश्वासतां मा गाः)** विश्वास मत करो। **(ते विश्वासे)** आपके द्वारा विश्वास किये जाने पर **(जन वाच्यताम्)** लोक चर्चा एवं **(संशयो भवति)** संशय होता है। **(नश्येत् पुम् अर्थम्)** पौरुष नष्ट होता है। **(अतः)** इसलिए **(त्वम्)** तुम **(गुरूक्तवचनम्)** गुरु के द्वारा कथित वचनों को **(शीर्षे समारोपयः तिष्ठः)** सिर पर धारण करो। **(स्वाध्यायानुरतः)** स्वाध्याय में मग्न रहो। **(चेत् पुनर्विकृतिं व्रजेत्)** यदि भ्रष्ट हो जाते हो तो **(त्वमेव)** तुम ही **(क्षयं यासि)** क्षय को प्राप्त हो जाओगे।

अर्थ :-

तू सतत स्त्रियों के घर में विश्वास मत कर. तेरे विश्वास कर लेने से लोक चर्चा होगी, संशय उत्पन्न होगा एवं पौरुष नष्ट होगा। तुम स्वाध्याय में मग्न रहकर गुरु के वचनों को सिर पर धारण करो। यदि तुम भ्रष्ट होते हो तो क्षय को प्राप्त हो जाओगे।

भावार्थ :-

आचारशास्त्रों में सदाचार की मर्यादा का परिपालन करने के लिए अनेक नियम बनाये गये हैं। उन नियमों का धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है। स्त्रियों पर विश्वास करने से पाँच दोष उत्पन्न होते हैं - ऐसा मूलाचार में आचार्य श्री वट्टकेर जी का मत है।

शंका :- वे पाँच दोष कौनसे हैं ?

समाधान :- आचार्य श्री वसुनन्दि जी ने लिखा है कि -

आज्ञाकोपानवस्थामिथ्यात्वाराधनात्मनाशसंयम विराधनानि।

(मूलाचार टीका - ५/१२७)

अर्थात् :- आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्व-आराधना, आत्मनाश और संयम की विराधना ये पाँच दोष होते हैं।

१. आज्ञाकोप :- जिनेन्द्र की आज्ञा है कि स्त्रियों पर विश्वास न करें। विश्वास करने से उनकी आज्ञा का उल्लंघन होता है।

२. अनवस्था :- गृहस्थ हो या मुनि, उनके पद की एक गरिमा होती है। एक को विलोक कर दूसरे भी उस मर्यादा का पालन करते हैं। एक के द्वारा मर्यादा का भंग करने पर अन्य लोग भी मर्यादा का भंग करेंगे। इसी दोष को अनवस्था दोष कहा जाता है।

३. मिथ्यात्व-आराधना :- सर्वज्ञ की आज्ञा का भंग होने से मिथ्यात्व को पुष्ट होने का अवसर प्राप्त होगा।

४. आत्मनाश :- मिथ्यात्व का उदय होने पर सम्यग्दर्शन का अभाव हो जाता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र का भी विनाश हो जाता है। रत्नत्रय के विनाश को ही आत्मा का नाश कहा जाता है।

३. संयम की विराधना :- स्त्रियों में किया गया विश्वास धीरे-धीरे प्रीति को उत्पन्न करता है। प्रीति वासना की जननी है। वासना के कारण इन्द्रियनिग्रह रूप संयम का अभाव होकर असंयम वर्द्धित होता है।

ग्रंथकर्त्ता ने इस श्लोक में तीन मूलदोषों का वर्णन किया है।

१. लोक में अपकीर्ति :- यह साधु स्त्रियों में अनुरागी है, ऐसी अपकीर्ति स्त्रियों में विश्वास करने वाले मुनि के प्रति निश्चित् ही उत्पन्न होती है।

२. संशय :- मुनि का चारित्र संशयास्पद हो जाता है।

३. पौरुषनाश :- अस्ति पुरुषश्चिदात्मा (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-९) चैतन्यमयी आत्मा ही पुरुष है। पुरुष का कार्य, गुण या धर्म ही पौरुष कहलाता है। स्त्रियों में विश्वास करने से आत्मधर्म अथवा आत्मगुण नष्ट होने लगते हैं तथा आत्महितकर कार्यों का विनाश होने लगता है।

शरीर संस्कार का निषेध

किं संस्कारशतेन विट् जगति भोः काश्मीरजं जायते ,
किन्देहः शुचितां व्रजेदनुदिनं प्रक्षालनादम्भसा ।
संस्कारो नखदन्तवक्त्रवपुषां साधो त्वया युज्यते ,
नाकामो किल मण्डनप्रिय इति त्वं सार्थकं मा कृथाः ॥२४॥

अन्वयार्थ :-

(किम्) क्या (जगति) संसार में (संस्कार शतेन) सैकड़ों बार किये गये संस्कार से (विट्) विष्ठा (काश्मीरजं जायते ?) चन्दन बन जाती है ? (किम्) क्या (देह) यह शरीर (अनुदिनं) प्रतिदिन (अम्भसा प्रक्षालनात्) जल से प्रक्षालित करने से (शुचितां व्रजेत् ?) पवित्र हो जाता है ? (नखदन्तवक्त्रवपुषाम्) नाखून, दांत, मुख और शरीर का (संस्कारः त्वया युज्यते) तू संस्कार करता है (त्वं मण्डनप्रियः) तू मण्डनप्रिय है (किल अकामी न) निश्चय से अकामी नहीं है (इति सार्थकम्) तू ऐसा सार्थक नाम (मा कृथाः) मत रख।

अर्थ :-

क्या विष्ठा पर सौ बार संस्कार करने पर विष्ठा कभी चन्दन हो जाती है ? क्या यह काया प्रतिदिन जलस्नान से पवित्र हो जाती है ? नख, दन्त, मुख और वपु का संस्कार तू कर रहा है। तू मण्डलप्रिय है, अकामी नहीं ऐसी सार्थकता मत करो। (मण्डलप्रिय इस नाम को सार्थक मत करो।)

भावार्थ :-

शरीर का दासत्व करना आत्मा के लिए अहितकर है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री अमितगति जी लिखते हैं कि -

ये भावाः परिवर्धिता विदधते कायोपकारं पुन -
स्ते संसारपयोधिमज्जनपरा जीवापकारं सदा ॥
जीवानुग्रहकारिणो विदधते कायापकारं पुन-
निश्चित्येति विमुच्यतेऽनघधिया कायोपकारि त्रिधा॥

(तत्वभावना-४४)

अर्थात् :- जो धारण किए हुए व बढ़ाए हुए, रागादिभाव व स्त्री, पुत्र, मित्र, राज्य, धनसम्पदा आदि पदार्थ इस शरीर का भला करते हैं परन्तु वे भाव या पदार्थ संसार समुद्र में डुबाने वाले हैं इसलिए वे हमेशा जीव का बुरा करते हैं तथा जो वीतराग भाव या तप, व्रत, संयम आदि जीव के उपकार करने वाले हैं वे शरीर का बुरा करते हैं अर्थात् शरीर को संयमी व संकुचित रहने वाला बनाते हैं ऐसा निश्चय करके निर्मल बुद्धिमान मानव को मन, वचन, काय तीनों प्रकार से शरीर को लाभ देने वाले और आत्मा का बुरा करने वाले पदार्थों को या भावों को छोड़ देना उचित है।

इसी तथ्य की अभिव्यक्ति करते हुए श्री पूज्यपादाचार्य लिखते हैं -

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम् ॥

(इष्टोपदेश -१८)

अर्थात् :- जो जीव (आत्मा) का उपकार करने वाले होते हैं, वे शरीर का अपकार (बुरा) करने वाले होते हैं। जो चीजें शरीर का हित या उपकार करने वाली होती है वही चीजें आत्मा का अहित करने वाली होती हैं।

जबतक आत्मोपयोग शरीर में लगा हुआ होता है, तबतक परवशवर्ती हुआ वह मूढ जीव आत्मकल्याण से दूरातिदूर हो जाता है। इसीलिए शरीर से ममत्व का त्याग करना साधनामार्ग के साधक का प्रथम कर्त्तव्य है। इसके लिए शरीर के मण्डन करने की रुचि सर्वप्रथम छोड देनी चाहिये।

इसी तथ्य को इस श्लोक में ग्रंथकर्त्ता ने स्पष्ट किया है। वे करुणापूर्वक समझाते हैं कि - हे साधो ! यह शरीर विष्ठा से भरे हुए बर्तन के समान है। यह कभी भी शुद्ध नहीं होता। क्या सैकडों बार जल से प्रक्षालित किये जाने पर भी विष्ठा कभी चन्दन बन सकती है ? जिस प्रकार विष्ठा चन्दन का रूप धारण नहीं कर सकती, उसीप्रकार सैकडों बार प्रक्षालित करने पर भी शरीर कभी पवित्र नहीं होता। शरीर का संस्कार करते समय यदि तुम नख, केश और मुख को शृंगारित करते रहोगे तो तुम मण्डनप्रिय कहलाओगे और यदि तुम मण्डनप्रिय हो तो तुम्हें अपना नाम अकामी नहीं रखना चाहिये। इसलिए तुम शरीर का मण्डनकार्य शीघ्र ही छोड दो।

ग्रंथ का उपसंहार

वृत्तैर्विंशतिभिश्चतुर्भिरधिकैः सल्लक्षणेनान्वितै -
ग्रन्थं सज्जनचित्तवल्लभमिमं श्री मल्लिषेणोदितम् ।
श्रुत्वात्मेन्द्रियकुञ्जरान् समटतो रुन्धन्तु ते दुर्जरान् ,
विद्वान्सो विषयाटवीषु सततं संसारविच्छित्तये ॥२५॥

अन्वयार्थ :-

(श्री मल्लिषेणोदितम्) श्री मल्लिषेण के द्वारा कथित यह **(सज्जनचित्तवल्लभं ग्रन्थम्)** सज्जनचित्तवल्लभ नामक ग्रंथ **(सल्ल -क्षणान्वितैः)** समीचीन लक्षणों से युक्त है **(चतुर्भिरधिकैः वृत्तैर्विं - शतिभिः)** चौबीस छन्दों से युक्त है। **(ये विद्वान्सः)** जो बुद्धिमान हैं **(ते इमं ग्रन्थं श्रुत्वा)** वे इस ग्रंथ को सुनकर **(संसारविच्छित्तये)** संसार का विनाश करने के लिए **(दुर्जरान्)** जिसको जीतना कठिन है ऐसे **(आत्मेन्द्रियकुञ्जरान्)** अपने इन्द्रिय रूपी हाथियों को **(विषयाटवीषु)**

विषय रूपी वन में (सततम्) हमेशा (समटतः) परिभ्रमण करने से (रुन्धन्तु) रोकते हैं।

अर्थ :-

आचार्य श्री मल्लिषेण जी द्वारा कथित चौबीस छन्दों वाला सच्चे लक्षणों से युक्त यह **सज्जनचित्त**वल्लभ नामक ग्रन्थ है, इसको सुनकर विद्वान् लोग अपने इन्द्रिय रूपी हाथियों को, जो कि विषय वन में निरंतर घूम रहें हैं, जिनको रोकना कठिन है, उनको रोकें।

भावार्थ :-

यह सम्बोधनप्रधान ग्रन्थ है। इसमें उपसंहार पद्य को छोडकर चौबीस पद्य हैं। इस ग्रन्थ का नाम **सज्जनचित्तवल्लभ** है और इसके लेखक आचार्य श्री मल्लिषेण जी हैं।

इस ग्रन्थ के पठन-पाठन करने से जो इन्द्रिय रूपी हाथी अत्यन्त दुर्जय है तथा जो विषय रूपी अटवी में सतत परिभ्रमण कर रहा है वह इन्द्रिय रूपी मातंग भी वशवर्ती हो जाता है।

इसीलिए इस ग्रन्थ को सुनकर बुद्धिमान पुरुष को इन्द्रिय रूपी गज को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये।

इति सज्जनचित्तवल्लभनामा ग्रन्थं समाप्तम्।

इसप्रकार सज्जनचित्तवल्लभ नामक ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

माँ जिनवाणी के भव्य प्राणियों पर असीम उपकार हैं। उसी की अनुकम्पा है कि भव्यजीव इस अपार संसार में आधि-व्याधि और उपाधिजनीत दुःखों को सदा-सर्वदा के लिए विनष्ट करके अक्षय सौख्य के आलय को प्राप्त कर लेता है। ऐसी भव्योद्धारिणी माता के चरणों में शत-शत वन्दन।

मुनि सुविधिसागर

श्लोकानुक्रमणिका

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्र.	श्लोक	श्लोक क्र.
	अ	
१	अङ्गंशोणित शुक्रसम्भवमिदम	८
२.	अन्येषां मरणं भवान गणयत	१४
३	अष्टाविंशति भेदमात्मनि पुरा	१३
	आ	
४.	आयुष्यं तव निद्रयार्द्धमपरं	१६
	ए	
५	एकाकी विहरत्यनस्थिते बलि	१८
	क	
६.	किं दीक्षा ग्रहणेन ते यदि धना	५
७.	किं वस्त्रं त्यजनेन भो मुनि रसा।	३
८.	किं संस्कार शतेन विट्जायति भो:	२४
९	कीलालं भवता भवेत कदशनं	१९
	द	
१०	दुर्गन्धं नवभिर्वपुः प्रवहति द्वारै	९
११.	दुर्गन्धं वदनं वपुर्मलभृतम्	७
१२.	देहे निर्ममता गुरौविनयता	३
	न	
१३	नत्वा वीरजिनं जगत्त्रय गुरुम	१
	म	
१४.	मानारत्वं युवतीगृहेषु सततं	२३
	य	
१५	यत्काले लघु पात्रमण्डित करो	१७
१६	यद्यद्वांछति तत्तदेव वपुषे	११

क्र.	श्लोक	श्लोक क्र.
१७	योषा पाण्डुक गोविवर्जित पदे	६
	र	
१८	रात्रिश्चन्द्रमसा विनाब्जनिवहै	२
	ल	
१९.	लब्ध्वार्थं यदि धर्मदानविषये	२०
२०	लब्ध्वा मानुषजातिमुत्तमकुलं	२१
	व	
२१	वृत्तैर्विंशतिभिश्चतुर्भिरधिकैः	२५
२२.	वेतालाकृतिमर्द्धदग्धमृतकं	२२
	श	
२३.	शोचन्ते न मृतं कदापि वनिता	१२
	स	
२४.	सौख्यं वाञ्छसि किन्त्वया गतभवे	१५
२५.	स्त्रीणां भावविलासविभ्रमकृतिं	१०

मनुष्य जीने के लिए स्वयं लालायित रहता है। प्राणों का मोह सभी प्रकार के मोह से अधिक प्रबल होता है। यदि मनुष्य अपने प्राणों के समान अन्य को भी अपने प्राण प्यारे हैं, ऐसा मान लेवें तो उसके मन में दयाभाव अवतीर्ण हो जायेगा। दया की वृत्ति मनुष्य के अन्दर विराजित सम्पूर्ण सद्गुणों में प्रमुख है। यही वृत्ति **सत्त्वेषु मैत्री** के सिध्दान्त का परिपालन कराती है। दया के वशीभूत होकर ही मनुष्य परोपकार की दिशा में अग्रसर होता है। जो उपकार करता है, वह भी आत्मरुप से उपकृत होता है। जो जीवदया के रंग में रंग जाता है, वही धर्म का सबसे श्रेष्ठ वहेता होता है।

मुनि सुविधिसागर

सहायक ग्रन्थों की सूचि

क्रम	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्त्ता
१.	लिंगपाहुड	आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी
२.	सुभाषित रत्न सन्दोह	आचार्य श्री अमितगति जी
३.	इष्टोपदेश	आचार्य श्री पूज्यपाद जी
४.	रत्नमाला	आचार्य श्री शिवकोटि जी
५.	ज्ञानार्णव	आचार्य श्री शुभचन्द्र जी
६.	तत्त्वभावना	आचार्य श्री अमितगति जी
७.	समाधिशतक	आचार्य श्री पूज्यपाद जी
८.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	आचार्य श्री स्वामी कुमार जी
९.	मूलाचार	आचार्य श्री वट्टकेर जी
१०.	श्रृंगार वैराग्य तरंगिणी	आचार्य श्री प्रभाचन्द्र जी
११.	बारहभावना	पंडितप्रवर श्री मंगतराम जी
१२.	बारहभावना	पंडितप्रवर श्री द्यानतराय जी

मनुष्य मरणधर्मा है। उसका जीवितव्य पानी के बूलबूले की भाँति ही क्षणस्थायी है। जबतक जिन्दगी की धड़कनें शेष हैं, तबतक मनुष्य को अपने आत्मकल्याण कर लेना चाहिये। यह शिक्षा जिनवाणी माता प्रतिपल दे रही है। जो इस शिक्षा को ध्यान में रखकर अपने जीवन के प्रत्येक समय को व्यतीत करता है उसके जीवन में मृत्यु किसी भी पल आ जाये, उसे अफसोस नहीं होता है।

मुनि सुविधिसागर

हमारे उपलब्ध प्रकाशन

टीकाग्रन्थ

१–	रत्नमाला	२५ रु.
२–	प्रमाणप्रमेयकलिका	२१ रु.
३–	सम्बोहपंचासिया	१२ रु.
४–	द्रव्यसंग्रह	३० रु.
५–	वैराग्यसार	१५ रु.
६–	कषायजय–भावना	१० रु.
७–	सज्जनचित्त वल्लभ	११ रु.
८–	ज्ञानांकुश	३० रु.

विधान साहित्य

१–	कल्याणमन्दिर विधान	१७ रु.
२–	भक्तामर विधान	१८ रु.
३–	रविव्रत विधान	१३ रु.
४–	रोटतीज व्रत विधान	११ रु.
५–	जिनगुणसम्पत्ति व्रत विधान	१८ रु.
६–	श्रुतस्कन्ध विधान	१५ रु.
७ –	सुगन्धदशमी व्रत विधान	१० रु.

प्रवचन साहित्य

१–	धर्म और संस्कृति	५ रु.
२–	कैद में फँसी है आत्मा	६ रु.
३–	ए बे–लगाम के घोडे ! सावधान	७५ रु.
४–	स्मरणशक्ति का विकास कैसे करें ?	१० रु.

क्रीड़ा साहित्य

१–	आध्यात्मिक क्रीड़ालय	३५ रु.
१–	ज्ञाननिधि क्रीड़ालय	३५ रु.

मुक्तक साहित्य

१–	सुविधि मुक्तक मणिमाला	५ रु.